* ओ३म् *

अथ कारकीयः

अथोपक्रमः

प्रश्न—कारक और कारकीय किस को कहते हैं ?

उत्तर—**'यत् करोति तत् कारकम्'** जो करनेहारा अर्थ है वह 'कारक' कहाता, और इस ग्रन्थ में इसका व्याख्यान है इसलिये इसको 'कारकीय' कहते हैं।

प्रश्न—कारक कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर—आठ—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, शेष, अधिकरण और हेतु। इन में से—

१—**'कर्त्ता'** उसको कहते हैं कि जो पदार्थ, सकल साधनयुक्त होके स्वतन्त्रता से सब क्रियाओं को करे। जैसे—**देवदत्तः पठति, आकाशो वर्त्तते,** इत्यादि। यहां विद्या पठन क्रिया का कर्त्ता देवदत्त[1] और वर्त्तमान क्रिया का आकाश है।

२—**'कर्म'** उसको कहते हैं कि जो किया जाय। इस के तीन भेद हैं—ईप्सिततम, अनीप्सितयुक्त और अकथित।

'ईप्सिततम कर्म' उसको कहते हैं कि जिसको अत्यन्त अभीष्ट [मा]न के करें। जैसे—**सुखमिच्छति, भोजनं करोति, ओदनं पचति,**

---

१. 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' इस से यहां कर्त्ता संज्ञा होती है, और सब कारकों में एकवचन के उदाहरणों से पृथक् द्विवचन, बहुवचन के प्रयोग भी जान लेना ॥

ग्रामं गच्छति, इत्यादि । यहां सुख होने की इच्छा, भोजन का करना, चावल का पकाना, और ग्राम को जाना किसी विशेष प्रयोजन के लिये अत्यन्त अभीष्ट होने से 'ईप्सिततम कर्म' कहाता है ।

'अनीप्सितयुक्त कर्म' उस को कहते हैं कि जिस की इच्छा तो न हो परन्तु संयोग होने से किया ही जावे । जैसे—**देवदत्तो ग्रामं गच्छन् चोरान् पश्यति कण्टकानुल्लङ्घयति,** इत्यादि । यहां चोरों को देखने और कांटों में चलने की इच्छा तो किसी को नहीं होती परन्तु संयोग से चोरों का देखना और कांटों का उल्लंघन करना अवश्य होता है ।

'अकथितयुक्त कर्म' उस को कहते हैं कि जिस का किसी गौण[1] भाव से निमित्त करके ईप्सिततम के साथ योग हो । जैसे—**गां दोग्धि पयः, माणवकं पन्थानं पृच्छति** इत्यादि[2] । यहां लड़के को पूछते रूप निमित्त के विना मार्ग का ज्ञान और गाय का दोहनरूप निमित्त के विना दूध की प्राप्ति नहीं हो सकती । परन्तु इस 'पृच्छति' क्रिया के साथ लड़के और 'दोग्धि' क्रिया के साथ साक्षात् गाय का सम्बन्ध नहीं है, किन्तु पन्था और दूध का है ।

३—**'करण'** उसको कहते हैं कि जिस से कर्त्ता अपने कर्त्तव्य कर्म को कर सके । इस के दो भेद हैं—गौण और मुख्य ।

'गौण करण' उस को कहते हैं कि जो साधारणता से क्रिया की सिद्धि का निमित्त हो । जैसे—**हस्ताभ्यां फूत्कारादिनाग्निः प्रज्वलति,** इत्यादि । यहां अग्नि की जलन क्रिया का निमित्त हाथों की फूकनादि क्रिया हैं ।

---

१. ईप्सिततम मुख्यकर्म और अकथित गौण कहाता है, और मुख्यकर्म के विना गौण किसी वाक्य में नहीं आता ॥

२. यहां दूध का निमित्त गौ और मार्ग का निमित्त होने से बालक गौणकर्म तथा दूध और मार्ग मुख्य है ॥

'मुख्य करण' कारण उस को कहते हैं कि साक्षात् सम्बन्ध से कर्त्तव्य कर्म की सिद्धि में यथावत् उपयुक्त हो, जिस के विना वह कर्म कभी न हो सके। जैसे—**इन्धनैरग्निः प्रज्वलति, अग्निनौदनं पचति,** इत्यादि। यहां अग्नि को जलाने में इन्धन और चावल के पकाने में अग्नि ही मुख्य साधक है।

४—**'सम्प्रदान'** उसको कहते हैं जिस से किसी का अभीष्ट सिद्ध किया जाय। जैसे—**विद्यार्थिने विद्यान्ददाति, अध्यापकाय धनं प्रयच्छति, अतिथयेऽन्नादिकं ददाति,** इत्यादि। यहां विद्यादान कर्म से विद्यार्थी, धनदान क्रिया से आचार्य और अन्नादि पदार्थ के देने से अतिथि का अभीष्ट सिद्ध किया जाता है, इसलिये ये 'सम्प्रदान' हैं।

५—**'अपादान'** उस को कहते हैं कि जहां प्राप्त का त्याग और अप्राप्त देश की प्राप्ति की जाय। जैसे—**गृहादागच्छति गच्छति वा, गुरुकुलादागच्छति गच्छति वा, ग्रामादागच्छति गच्छति वा**[1], इत्यादि। यहां पढ़ने के लिये प्राप्त घर को छोड़ कर अप्राप्त पाठशाला और पूर्णविद्या पढ़ के गुरुकुलनिवासरूप देश को छोड़ कर जन्मभूमि को प्राप्त होना प्रयोजन है, किन्तु छोड़ने रूप क्रिया के कर्म की 'अपादान संज्ञा' है, अर्थात् जिस का वियोग कर दूसरे को प्राप्त होना होता है।

---

१. यहां ग्रामादागच्छति, ग्रामादागच्छतः, ग्रामादागच्छन्ति इत्यादि सब वचन और तीनों पुरुष के प्रयोग होते हैं, क्योंकि एक स्थान से एक और अनेक का भी आना सम्भव है। और कई स्थानों से एक पुरुष का आना नहीं बनता, इसी कारण अपादानसंज्ञक शब्द से सब वचन नहीं होते। और जहां अनेक स्थानों से अनेकों का आना होगा वहां अपादान में भी सब वचन होंगे—ग्रामाभ्यामागच्छतः, ग्रामेभ्य आगच्छन्ति, इत्यादि॥

६—'**शेष कारक**' उसको कहते हैं कि जो अर्थ अपादानादि संज्ञाओं से गृहीत न हो। जैसे—**यस्य प्रशस्तभाग्यशालिनो यज्ञदत्तस्य पुत्रः पठति**, यहां पठनक्रिया के कर्त्ता पुत्र का सम्बन्धी यज्ञदत्त पिता है, जिसका पुत्र पढ़े वह भाग्यशाली है। **वेदस्य मन्त्रस्यार्थं जानाति**—वेद के मन्त्र के अर्थ को जानता है। यहां मन्त्र का वेद और अर्थ का शेष मन्त्र है। **अयसः कुठारेण वृक्षं छिनत्ति**—लोहे के कुल्हाड़े से वृक्ष को काटता है। यहां लोहा कुल्हाड़े का शेषार्थ है। **आप्तस्याऽध्यापकस्य विद्यार्थिने ददाति**—निष्कपट सत्यवादी पूर्णविद्यावान् पढ़ानेहारे पण्डित के विद्यार्थी को देता है। यहां विद्यार्थी का शेष पढ़ानेहारा है। **राज्ञो ग्रामादागच्छति**—राजा के गाम से आता है। यहां गाम का शेष कारक राजा है। **राज्ञः पुरुषस्य पुत्रो दर्शनीयोऽस्ति**—राजा के पुरुष का पुत्र देखने में सुन्दर है। **गुरोः कुले निवसति**—विद्यार्थी पढ़ने के लिये गुरु के कुल में निवास करता है। यहां अधिकरण कारक कुल शब्द का शेष गुरु है। **राज्ञो मन्त्री देवदत्तं ग्रामं गमयति**, इत्यादि—राजा का मन्त्री देवदत्त को ग्राम में भेजता है। यहां हेतु कारक मन्त्री का शेष राजा है। इसी प्रकार शेष कारक को सब से बड़ा जानो, क्योंकि वह सब के साथ व्यापक रहता है। इसके विना कोई कारक नहीं रहता, चाहे शेष का प्रयोग हो वा न हो।

७—'**अधिकरण**' उसको कहते हैं कि जो आधेय का आधार रूप अर्थ हो। सो तीन प्रकार का होता है। तद्यथा—**अधिकरण नाम त्रिःप्रकारकं भवति। व्यापकमौपश्लेषिकं वैषयिकमिति**॥ अ० ६। पा० १। सूत्र ७३। आ० ३। व्यापक, औपश्लेषिक, वैषयिक।

'व्यापक' अधिकरण उसको कहते हैं कि जिसका योग सब व्यक्ति और अवयवों में रहे। जसे- **दिक्कालाकाशेषु पदार्थाः सन्ति;**

ईश्वरे सर्वं जगद्वर्त्तते[1], इत्यादि —दिशा काल और आकाश में सब पदार्थ रहते और सब जगत् ईश्वर में है ।

'औपश्लेषिक' उसको कहते हैं कि जहां आधार और आधेय का संयोग हो । जैसे—**खट्वायां शेते, गृहे निवसति,** इत्यादि । यहां खाट और सोनेवाले और घर तथा घर में रहनेवाले का स्पर्शमात्र संयोग है ।

'वैषयिक' उसको कहते हैं कि जिस में जो रहे । जैसे—**धर्मे प्रतिष्ठते; विद्यायां यतते**[2], इत्यादि । मनुष्य की धर्म में वर्त्तने से प्रतिष्ठा और जो विद्या में यत्न करता है वह ज्ञानी होता है ।

८—**'हेतु कारक'** उसको कहते हैं कि जो अर्थ क्रिया करनेहारे का प्रेरक हो । जैसे—**देवदत्तो विद्यामधीते, गुरुरेनं विद्यामध्यापयति; विचक्षणो धर्मं करोति, उपदेष्टैनं धर्मं कारयति,** इत्यादि । यहां पढ़ने-हारे विद्यार्थी के पढ़ने के लिये प्रेरक गुरु और धर्म के करनेहारे चतुर पुरुष को धर्म करानेहारा उपदेशक है ।

और इसमें इतना विशेष समझना चाहिये कि साक्षात् करनेहारे की 'कर्त्तृ कारक' संज्ञा और प्रेरणा करनेहारे की 'हेतु' संज्ञा है ।

प्रश्न—वाक्य किसको कहते हैं ?

उत्तर—**आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम् । सविशेषण-मेकतिङ् वा**—जो आख्यात अव्यय कारक और विशेषणयुक्त हो,

---

१. जैसे—तिलेषु तैलम्, दध्नि घृतम्, इत्यादि भी व्यापक अधिकरण में गिने जाते हैं, क्योंकि तिलों के सब अवयवों में तेल और दही के सब अवयवों में घृत व्यापक है । दिशा आदि के उदाहरण सामान्य और ये विशेष हैं ।

२. प्रतिष्ठा का विषय धर्म और विद्या प्रयत्न का विषय है ॥

सो 'वाक्य' कहाता है। 'साव्यय' जैसे—**देवदत्त उच्चैः पठति,** इत्यादि—देवदत्त ऊंचे स्वर से पढ़ता है। 'सकारक'—**मनुष्यो धर्ममाचरेत्,** इत्यादि—मनुष्य धर्माचरण करे। 'सविशेषण'—**बुद्धिमान्देवदत्त ऋजु पठति,** इत्यादि—बुद्धिमान् देवदत्त कोमलता से पढ़ता है।

अथवा जिसमें विशेषण युक्त एक तिङन्त पद हो, वह 'वाक्य' कहाता है। इसी के पूर्वोक्त उदाहरण—**देवदत्त उच्चैः पठति,** इत्यादि जानो।

प्रश्न—वाक्य के कौन से प्रयोजन हैं ?

उत्तर—अनेक अर्थ की प्रतीति और व्यवहार प्रवृत्ति आदि हैं। क्योंकि—**अर्थगत्यर्थ, शब्दप्रयोग;। अर्थं प्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते ।। महाभाष्य अ० १। पा० १। सू० ४४। आ० ७।** अर्थ के जानने के लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है। **वक्तुं योग्यं पदसमुदायं वाक्यम्**—जो कहने को योग्य हो, जिसमें अनेक पदों का योग हो, वह 'वाक्य' कहाता है। जब तक कोई किसी को वाक्य बोल के अर्थ का बोध नहीं कराता तब तक उसका प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, व्यवहार में प्रवृत्ति नहीं होती, और जब तक व्यवहार ठीक ठीक नहीं होता, तब तक उसका कार्य सिद्ध होकर सुखप्राप्ति रूप प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता। इसलिए वाक्य और वाक्यार्थ का बोध करना सब मनुष्यों को अवश्य उचित है।

प्रश्न—वाक्यार्थ बोध में कितने कारण हैं ?

उत्तर—चार—आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य।[1]

---

१. इनके विना कोई भी वाक्य नहीं होता, और न इनके जाने विना और ग्रन्थ के वाक्यों के सत्य सत्य अभिप्राय का बोध किसी को हो सकता है ॥

१—'आकांक्षा' उसको कहते हैं कि वाक्य में जिन पदों का प्रयोग है उनके साथ जिन अप्रयुक्त पदों का अवश्य संबन्ध करना हो। जैसे—**अनुतिष्ठात,** यहां अनुतिष्ठत इस क्रियापद के साथ यूयं और धर्म इन दो पदों और **यूयमधर्मम्**[1] इस वाक्य में **संत्यजत** इस क्रियापद की आकांक्षा अवश्य है, क्योंकि इनके विना वाक्य की पूर्ति कभी नहीं हो सकती। तथा 'अनाकांक्षा' उसको कहते हैं कि जिस वाक्य में सब योग्य पदों का प्रयोग हो। जैसे—**यूयं धर्ममनुतिष्ठत; यूयमधर्मं संत्यजत,** इत्यादि उदाहरण समझ लेना।

२—'योग्यता' उसको कहते हैं कि जो पद जिसके साथ प्रयोग करने योग्य हो वा जिस से जो कार्य्य सिद्ध होता है, उन्हीं का प्रयोग करना। जैसे—**चक्षुषा पश्यति, श्रोत्रेण शृणोति, जलेन सिञ्चति, अग्निना दहति,** इत्यादि—मनुष्य आंख से देखता, कान से सुनता, जल से सींचता और अग्नि से जलाता है। यहां वाक्यार्थ की योग्यता है, और—**कर्णेन पश्यति, हस्तेन शृणोति, अग्निना सिञ्चति, जलेन दहति,** इत्यादि में वाक्यार्थ की योग्यता नहीं है, क्योंकि कान से देखने, हाथ से सुनने, आग से सींचने और जल से जलाने का कभी संभव नहीं हो सकता।

३—'आसत्ति' उस को कहते हैं कि जिस पद की जिस के साथ योग्यता हो उसको उसी के साथ बोलना। जैसे—**हे देवदत्त त्वमिति कश्चित्प्रति प्रातरुक्त्वा सायंकाले ब्रूयाद् ग्रामं गच्छेति**—कोई किसी से प्रातःकाल 'तू' ऐसा कह कर चुपचाप रहे, पश्चात् सायंकाल में कहे कि ग्राम को जा। यहां चार पहर के विलम्ब होने से इस का वाक्यार्थ बोध किसी को नहीं हो सकता, क्योंकि पदों का अभिसम्बन्ध

---

१. वाक्य का लक्षण तिङ् के विना नहीं किया, इस कारण इसको शुद्ध वाक्य नहीं कह सकते, किन्तु आकांक्षित वाक्य कहावेगा ॥

निकट नहीं है। और जैसे—**हे देवदत्त त्वं ग्रामं गच्छ,** इत्यादि वाक्य अर्थबोधक हो सकते हैं, क्योंकि यहां कर्त्ता कर्म्म और क्रिया का उच्चारण एक समय में समीपस्थ है।

४—'तात्पर्य' उसको कहते हैं कि वक्ता जिस अभिप्राय के जानने के लिये वाक्य बोले, उसी के अनुकूल दूसरे को समझना उचित है। जैसे किसी ने कहा कि—**मह्यन्देह्यत्र दातव्यमेव दद्यादिति वेदितव्यम्।** जैसे किसी ने किसी से कहा कि आप मुझको कुछ दीजिये, यहां ग्रहण करने के योग्य पदार्थों का मिलना वक्ता का प्रयोजन है। ऐसा न समझना कि **अयं दुःखदायिवस्तुयाचक इत्यस्य तात्पर्यार्थः।** जैसे पूर्व वाक्य में कोई ऐसा समझे यह मुझसे दुःखदायक पदार्थों को चाहता है, ऐसा समझना उसके तात्पयर्थ से विरुद्ध है। इसलिये सब को वाक्यबोध के कारण अवश्य जानने चाहियें॥

इत्युपक्रमः॥

(१) कर्तृकारक

६२९–कारके ॥ १ ॥ —अ० । १ । ४ । २३ ॥

संज्ञाधिकार के बीच पढ़ने और आगे आगे सूत्रों में इसकी अनुवृत्ति होने से यह अधिकार सूत्र है। इस से जहां जहां स्वतंत्र आदि शब्दों की संज्ञा की जावेगी, वहां वहां सर्वत्र कारक शब्द का अधिकार समझा जावेगा।

क्रिया और द्रव्य का संयोग और क्रिया की सिद्धि करनेवाले को 'कारक' कहते हैं ॥ १ ॥

६३०–स्वतन्त्रः कर्त्ता ॥ २ ॥ —अ० १ । ४ । ५४ ॥

स्व=आप, तन्त्रः=प्रधान (स्वतन्त्र)। जो आप ही क्रिया के करने में प्रधान हो, उसकी कर्तृ कारक संज्ञा है ॥ २ ॥

६३१–तत्प्रयोजको हेतुश्च ॥ ३ ॥ —अ० १ । ४ । ५५ ॥

जो वह स्वतन्त्र प्रेरणा करनेवाला हो, तो उस की हेतु और कर्त्ता दोनों संज्ञा होती हैं ॥ ३ ॥

६३२–प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा[1] ॥ ४ ॥
—अ० २ । ३ । ४६ ॥

---

१. यहाँ 'प्रातिपदिकार्थ' उसको कहते हैं कि जो उस शब्द की सत्तामात्र हो, और जो अर्थ के साथ शब्द का विशेष सम्बन्ध होता है। इसीलिये लिङ्ग आदि का ग्रहण है। जैसे—पुमान्, इस शब्द में जो पुरुष व्यक्ति के साथ सामान्य सम्बन्ध है वही प्रातिपदिकार्थ है। और पुरुषपन अर्थात् स्त्री से अलग होना है यह प्रातिपदिकार्थ नहीं है, किन्तु लिङ्ग है ॥

जो जिस अर्थ के साथ समर्थ होता है उसको 'प्रातिपदिकार्थ' कहते हैं। इसके अर्थमात्र, लिङ्ग, अर्थात्—स्त्री, पुरुष नपुंसकमात्र, परिमाण अर्थात् तोल मात्र, और वचन—एक दो बहुत मात्र, इन अर्थों में प्रथमा विभक्ति होती है।

इसी सूत्र के भाष्य में लिखा है कि—**तिङ्समानाधिकरणे प्रथमेत्येतल्लक्षणं करिष्यते।** अस्ति भवति आदि तिङन्त क्रियाओं के साथ जिसका समानाधिकरण हो उसको उक्त कथित और अभिहित कहते हैं। उसी में प्रथमा विभक्ति होती है। इससे भिन्न कारकों में द्वितीयादि होती हैं, सो आगे कहेंगे।

कर्त्ता और हेतु कारक के उदाहरण प्रातिपदिकार्थमात्र में—देवदत्तो ग्रामं गच्छति; यज्ञदत्तो देवदत्तं ग्रामं गमयति, देवदत्त ओदनं पचति, यज्ञदत्तो देवदत्तेनौदनं पाचयति, इत्यादि। यहां गच्छति, पचति क्रिया के करने में देवदत्त स्वतन्त्र होने से कर्त्ता और यज्ञदत्त की प्रेरणा का कर्म है, उस का इन्हीं क्रियाओं के साथ समानाधिकरण होने से उसमें प्रथमा विभक्ति होती है। तथा अर्थ मात्र के कहने से उच्चैः, नीचैः, इत्यादि में भी प्रथमा विभक्ति हो जावे।

लिङ्गमात्र में—कुमारी, यहां जो प्रातिपदिकार्थ युवा अवस्था है उससे स्त्रीत्व पृथक् है इसलिये प्रातिपदिक संज्ञा नहीं प्राप्त थी। पुल्लिङ्ग—वृक्षः वृक्ष एक[1] जाति है, यहां जो जातित्वमात्र प्रातिपदिकार्थ है वह पुल्लिङ्ग व्यक्ति से पृथक् है। नपुंसक—कुलम, यहां भी नपुंसकपन प्रातिपदिकार्थ जो जनसमुदाय है उससे पृथक् है।

---

१. एक शब्द के उच्चारण से सामान्य अर्थात् असंख्य व्यक्तियों का बोध होना 'जाति' कहाती है। सो वृक्ष शब्द के उच्चारण से व्यक्ति, आकृति और जाति तीनों का बोध होता है, लिङ्गार्थ इन तीनों से पृथक् है॥

परिमाणमात्रः में—द्रोणः । खारी । आढकम्, इन तोल के वाची शब्दों में प्रथमा होती है[1] । वचन मात्र में—एकः, । द्वौ । बहवः, यहां जो एक दो और बहुत संख्यात्व है, वह प्रातिपदिकार्थ से पृथक् है ।

यहां 'मात्र' ग्रहण इसलिये है कि इससे भिन्न अन्यत्र कर्म्मादि के विषय में प्रथमा न हो ।। ४ ।।

यह कर्तृकारक पूरा हुआ ।।

—:**:—

(२) कर्मकारक

६३३–कर्तुरीप्सिततमं कर्म ।। ५ ।। —अ० १ । ४ । ४९ ।।

जो बहुत कारकों से युक्त वाक्य के बीच में कर्त्ता को अत्यन्त इष्ट कारक है, वह कर्मसंज्ञक होता है ।। ५ ।।

इस का फल—

६३४–अनभिहिते ।। ६ ।। —अ० २ । ३ । १ ।।

यह अधिकार विभत्तिविधान प्रकरण में है । 'अभिहित' उस को कहते हैं कि जिस से लकारादिप्रत्ययान्त क्रियाओं का समानाधिकरग होवे । और जिसमें लकारादि प्रत्ययों का समानाधिकरण न हो उसी को अनभिहित, अनुक्त और अकथित भी कहते हैं ।

इस के आगे जो जो विभक्तिविधान प्रकरण के सूत्र लिखे जावेंगे, उन सब में यही अधिकार समझा जावेगा । और संज्ञा प्रकरण का अधिकार लिख चुके हैं ।। ६ ।।

---

१. तोलन साधक द्रोण आदि शब्द, घृत आदि मेय अर्थात् परिमाण विषयों के सम्बन्ध में मान अर्थात् इयत्ताकरणार्थ होने से प्रातिपदिकार्थ से पृथक् हैं, इसलिये इनका ग्रहण है ।।

६३५—कर्मणि द्वितीया ॥ ७ ॥ —अ० २ । ३ । २ ॥

अनभिहित कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति हो ।

ग्रामं गच्छति । वेदं पठति । यज्ञं करोति, यहां ग्राम का जाना, वेद का पढ़ना, और यज्ञ का करना अत्यन्त इष्ट[1] है, इसलिये ग्राम वेद और यज्ञ की कर्म्म संज्ञा हो के द्वितीया विभक्ति हो जाती है । इसी प्रकार सर्वत्र जानना ।

अनभिहित का प्रयोजन यह है कि—पठ्यो वेदः, यहां वेद शब्द के अभिहित होने से द्वितीया न हुई ॥ ७ ॥

६३६—वा०—समयानिकषाहाप्रतियोगेषूपसंख्यानम्[2] ॥ ८ ॥

—अ० २ । ३ । २ ॥

समया, निकषा, हा, प्रति इन चार अव्ययों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है ।

समया ग्रामम् । निकषा ग्रामम् । हा देवदत्तम् । देवदत्तं प्रति । यहां सर्वत्र देवदत्त और ग्राम शब्द में द्वितीया विभक्ति हुई है ॥ ८ ॥

६३७—वा०—अपर आह-द्वितीयाऽभिधानेऽभितःपरितः समयानिकषाऽध्यधिधिग्योगेषूपसंख्यानम् ॥ ९ ॥

—अ० २ । ३ । २ ॥

---

१. जो पदार्थ अत्यन्त इष्ट नहीं होता, उसकी सिद्धि के लिये शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि आदि की यथार्थ प्रवृत्ति नहीं होती, फिर उस की कर्म संज्ञा भी नहीं हो सकती ॥

२. यहां अनभिहित कर्म नहीं है, इसलिये यह द्वितीयाविभक्तिविधान प्रकरण बांधा है ॥

अभितः, परितः, समया, निकषा, अध्यधि, धिक् इन शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होवे।

समया और निकषा शब्द पूर्ववार्त्तिक में आ चुके हैं, इन के उक्त उदाहरण जानने। अभितो ग्रामम्। परितो ग्रामम्। अध्यधि ग्रामम्। धिग् जाल्मम् ॥ ९ ॥

६३८—का०—अपर आह—

उभसर्वतसोः कार्य्या धिगुपर्य्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥ १० ॥
—अ० २।३।२॥

उभयतस्, सर्वतस्, धिक, उपर्य्युपरि, अध्यधि, अधोधो इनके योग में भी द्वितीया विभक्ति होवे।

जैसे—उभयतो ग्रामम्। सर्वतो ग्रामम्। धिग्जाल्मम्। उपर्युपरि ग्रामम्। अध्यधि ग्रामम्। अधोऽधो ग्रामम्।

और इनके योग से अन्यत्र जहां किसी सूत्र वार्त्तिक से द्वितीया विधान न हो, वहां भी इसी कारिका के प्रमाण से होती है। जैसे—बुभुक्षितन्न प्रतिभाति किञ्चित्, इत्यादि। यहां प्रति के योग में द्वितीया हुई है ॥ १० ॥

६३९—तृतीया च होश्छन्दसि ॥ ११ ॥ —अ० २।३।३॥

वेदविषयक 'हु' धातु के अनभिहित कर्मकारक में तृतीया और चकार से द्वितीया विभक्ति भी होती है।

यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति। यवागूमग्निहोत्रं जुहोति।

'छन्द' का ग्रहण इसलिये है कि—यवागूमग्निहोत्रं जुहोति, यहां लोक में तृतीया विभक्ति न हो ॥ ११ ॥

६४०–अन्तरान्तरेण युक्ते ।। १२ ।। —अ० २ । ३ । ४ ।।

अन्तरा, अन्तरेण इन दो अव्ययों के योग में द्वितीया विभक्ति हो[1] ।

अग्निमन्तरा कथं पचेत् । अग्निमन्तरेण कथं पचेत् ।। १२ ।।

६४१–कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ।। १३ ।।

—अ० २ । ३ । ५ ।।

अत्यन्त संयोग अर्थ में कालवाची और मार्गवाची शब्दों से द्वितीया विभक्ति होवे ।

मासमधीतोऽनुवाकः । क्रोशं कुटिला नदी[2] ।

यहां 'अत्यन्त संयोग' ग्रहण इसलिये है कि—दिवसस्य द्विर्भुङ्क्ते, इत्यादि में द्वितीया न हो ।। १३ ।।

६४२–अपवर्गे तृतीया ।। १४ ।। —अ० २ । ३ । ६ ।।

---

१. यह द्वितीया विभक्ति का प्रकरण है, और पूर्वसूत्र में तृतीया विधान है, सो द्वितीया का ही अपवाद है, इसलिये यहाँ तृतीया की अनुवृत्ति नहीं आती, द्वितीया की ही आती है । और यह सूत्र अपूर्व विधायक है, अर्थात् अन्तरा अन्तरेण इन अव्ययों के योग में किसी विभक्ति का विधान किसी सूत्र से नहीं है ।।

२. यहाँ अत्यन्तसंयोग यह है कि महीने के बीच पढ़ने में कोई अनध्याय वा विक्षेप न हुआ, यह उस काल और पठनक्रिया का अत्यन्त संयोग है । क्रोश भर टेढ़ी नदी, यहाँ मार्ग और नदी का अत्यन्त संयोग है, क्योंकि क्रोश भर में टेढ़ाई व्याप्त है ।।

जो शुभ कर्म की समाप्ति है उसको अपवर्ग कहते हैं, इस अत्यन्त संयोग अर्थ में कालवाची और मार्गवाची शब्दों से तृतीया विभक्ति हो।

मासेनाधीतोऽनुवाकः। क्रोशेनाधीतोऽनुवाकः।

यहां 'अपवर्ग' ग्रहण इसलिये है कि—मासमधीतोऽनुवाको न चानेन गृहीतः, इत्यादि स्थल में तृतीया न हो[1] ॥ १४ ॥

६४३–सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये ॥ १५ ॥

—अ० २। ३। ७ ॥

जो अत्यन्त संयोग अर्थ में दो कारकों के बीच काल और मार्गवाची शब्द हों, तो उनसे सप्तमी और पञ्चमी विभक्ति हों।

अद्य देवदत्तो भुक्त्वा द्व्यहाद् भोक्ता; द्व्यहे भोक्ता। इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशाल्लक्ष्यं विध्यति, क्रोशे लक्ष्यं विध्यति, इत्यादि ॥ १५ ॥

६४४–गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि ॥ १६ ॥

—अ० २। ३। १२ ॥

जिसकी चेष्टा क्रिया विदित होती हो, ऐसे गत्यर्थक धातुओं के मार्गरहित अनभिहित कर्म में द्वितीया और चतुर्थी विभक्ति हों।

ग्रामं गच्छति, ग्रामाय गच्छति। ग्राममेति; ग्रामायैति[2]।

'गत्यर्थक' धातुओं का ग्रहण इसलिये है कि—कटं करोति, यहां चतुर्थी न हो। 'कर्म' ग्रहण इसलिये है कि—अश्वेन गच्छति, यहां

---

१. अर्थात् जहां एक महीने में पढ़ के समाप्त कर दिया हो, और अच्छे प्रकार जान लिया हो, वहीं हो ॥

२. यहाँ अनभिहित कर्म्म में (कर्म्मणि द्वितीया ॥ अ० २। ३। २) कारकीय—७ इससे द्वितीया ही पाती है, उसका यह अपवाद है ॥

करण में द्वितीया और चतुर्थी न हों। 'चेष्टा' ग्रहण इसलिये है कि—मनसा गृहं गच्छति, यहां चेष्टा के न होने से चतुर्थी नहीं होती। और 'अनध्वनि' ग्रहण इसलिये है कि—अध्वानं गच्छति, यहां चतुर्थी न हो ॥ १६ ॥

६४५—वा०—अध्वन्यर्थग्रहणम् ॥ १७ ॥

—अ० २ । ३ । १२ ॥

अध्व के पर्य्यायवाची शब्दों का भी निषेध में ग्रहण होना चाहिये।

जैसे—अध्वानं गच्छति, यहां चतुर्थी नहीं होती। वैसे ही—पन्थानं गच्छति, इत्यादि में भी चतुर्थी न हो ॥ १७ ॥

६४६—वा०—आस्थितप्रतिषेधश्च ॥ १८ ॥

—अ० २ । ३ । १२ ॥

मार्गवाची मुख्य शब्दों का निषेध होना चाहिये।

क्योंकि—उत्पथेन पन्थानं गच्छति; पथे गच्छति,[1] यहां चतुर्थी का निषेध न हो जावे ॥ १८ ॥

अब कर्म संज्ञा में जो विशेष सूत्र, वार्त्तिक तथा कारिका बाकी हैं वे लिखते हैं। उन में कर्म संज्ञा होके प्रथम सूत्र से ही द्वितीया विभक्ति होती है—

६४७—तथा युक्तं चानीप्सितम् ॥ १६ ॥

—अ० १ । ४ । ५० ॥

जिस प्रकार ईप्सिततम कारक की कर्म संज्ञा होती है, वैसे ही जिसका अकस्मात् योग हो जाय, तो उस युक्त अनीप्सित की भी कर्म संज्ञा हो।

---

१. यहाँ मार्गवाची मुख्य शब्द यों नहीं है कि गड़बड़ मार्ग से शुद्ध मार्ग के लिये जाता है। शुद्ध मार्ग का चलना गौण है ॥

ग्रामं गच्छन् वृकान् पश्यति, तृणानि स्पृशति—ग्राम को जाता हुआ भेड़ियों को देखता, और घास का स्पर्श करता जाता है। भेड़ियों का देखना तो उसको अनिष्ट है, और घास का स्पर्श होना इष्ट अनिष्ट दोनों ही नहीं। इष्ट केवल ग्राम का जाना है, सो उसकी कर्म संज्ञा पूर्वसूत्र से ही हो गई। यहां भेड़िया और घास की कर्म संज्ञा हो जाने से द्वितीया विभक्ति हो जाती है ॥ १९ ॥

६४८–अकथितं च ॥ २० ॥ —अ० १ । ४ । ५१ ॥

अपादान आदि सब कारकों में जिसकी कोई संज्ञा न की हो उसको 'अकथित' कहते हैं। उस अकथित की भी कर्म संज्ञा हो जावे।

जैसे—अजां नयति ग्रामम्। भारं वहति ग्रामम्। यहां अजा और भार शब्द की तो कर्म संज्ञा (कर्त्तु री० ॥ १ । ४ । ४९) इस उक्त (५) सूत्र से सिद्ध ही है। ग्राम शब्द में किसी कारक संज्ञा की प्राप्ति नहीं थी, इससे उसकी इस सूत्र से कर्म संज्ञा हो के द्वितीया होती है।

जो इस सूत्र का व्याख्यान महाभाष्यकार ने किया है, सो लिखते हैं—

६४९–का०–

दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ।
ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते तदकीर्त्तितमाचरितं कविना ।२१।

—म० १ । ४ । ५१ ॥

इस कारिका से सूत्र का प्रयोजन दिखलाया है। दुह, याच, रुध, प्रच्छ, भिक्ष, चिञ्, ब्रू ञ् और शासु इन धातुओं के योग में

उपयोग[1] का जो निमित्त हो, उसकी अपूर्वविधि अर्थात् जिसका विधान पूर्व अपादान आदि कारकों में कुछ भी न किया हो, तो इस सूत्र से कर्म संज्ञा हो।

जैसे दुह—गां दोग्धि पयः। याच—पौरवं गां याचते। रुध—गामवरुणद्धि व्रजम्। प्रच्छ—माणवकं पन्थानं पृच्छति। भिक्ष—पौरवं गां भिक्षते। चिञ्—वृक्षमवचिनोति फलानि। ब्रूञ्—पुत्रं धर्मं ब्रूते। शासु—सन्तानं धर्मं शास्ति॥ २०—२१॥

प्रश्न—जहाँ कर्म कारक में लकारादि प्रत्यय विधान हैं, वे जहाँ दो कर्म हों वहाँ किस कर्म में होने चाहियें?

उत्तर—

**६५०—का०—कथिते लादयश्चेत्स्युः षष्ठीं कुर्य्यात्तदा गुणे।
अकारकं ह्यकथितात्कारकं चेत्तु नाकथा॥२२॥**

—म० १।४।५१॥

विचार करते हैं कि जो कथित प्रधान कर्म में लकारादि प्रत्यय किये जावें, तो गौण अर्थात् अकथित कर्म में षष्ठी विभक्ति होनी चाहिये।

---

१. उपयोग उसको कहते हैं कि जिसका क्रिया के साथ मुख्य सम्बन्ध हो। और उसका निमित्त वह है कि जिस के विना उसकी सिद्धि न हो। जैसे—पौरवं गां याचते, यहाँ गौ तो उपयोगी कर्म है, वह ईप्सिततम होने से पूर्व सूत्र से कर्मसंज्ञक हो जाता, और इसी कर्म का याचन क्रिया के साथ मुख्य सम्बन्ध है। और पौरव जो दाता पुरुष है वही इस गौ का निमित्त है, उसके विना गौ नहीं मिल सकती। इसलिये पौरव अकथित कर्म है, उस की कर्म संज्ञा इस सूत्र से होती है॥

जैसे—दुह्यते गोः पयः। याच्यते पौरवस्य कम्बलः। क्योंकि जो अकथित है वह कारक नहीं, किन्तु जो कथित है वही कारक है। जिस जिस में लकारादि प्रत्यय होते हैं उस उस कथित कर्म में थमा विभक्ति होती है, और जो अकथित है कि जिस में किसी विभक्ति की प्राप्ति नहीं, उस के शेष होने से वहां षष्ठी हो जाती है ॥ २२ ॥

६५१—का०—

कारकं चेद्विजानीयाद्यां यां मन्येत सा भवेत् ॥ २३ ॥

—म० १ । ४ । ५१ ॥

और जिसको अकथित जानते हो, उसको जो कारक जानो तो जिस जिस कारक संज्ञा में उसकी प्रवृत्ति हो सकती हो, वही विभक्ति उसमें करनी चाहिये।

जो उस अकथित की अपादान संज्ञा हो सकती हो, तो वहां पञ्चमी विभक्ति करनी चाहिये। जैसे—दुह्यते गोः पयः। याच्यते पौरवात्कम्बलः ॥ २३ ॥

पूर्वकारिका से जो कथित कर्म में लकारादि प्रत्ययों का विधान किया, सो किसी किसी आचार्य्य का मत है। अब तीसरी कारिका से पाणिनिजी का मत दिखलाते हैं—

६५२—का०—

कथितेऽभिहिते त्वविधिस्त्वमतिर्गुणकर्मणि लादिविधिः स परे।
ध्रुवचेष्टितयुक्तिषु चाप्यगुणे तदनल्पमतेर्वचनं स्मरत ॥२४॥

—म० १ । ४ । ५१ ॥

जो कथित कर्म में लकारादि प्रत्यय होते हैं, यह तुम्हारी बुद्धि से तुमने विधान किया है[१]। परन्तु पाणिनिजी के मत से तो गौण अर्थात् अकथित कर्म में लकारादि प्रत्यय होने चाहियें।

जैसे (गतिबुद्धि० ॥ १ । ४ । ५२) इस आगे के (३०) सूत्र में गौण कर्म में लकारादि प्रत्यय होते हैं, वैसे यहाँ भी हों—गौर्दुह्यते पयः। गौर्दोग्धव्या पयः। गौर्दुग्धा पयः। गौः सुदोहा पयः, इत्यादि। जहाँ अप्रधान गौ कर्म में लकारादि प्रत्यय होते हैं, वहाँ अभिहित होने से प्रथमा और पयः के अनभिहित होने से द्वितीया विभक्ति होती है।

तथा ध्रुवयुक्ति=अकर्मक और चेष्टितयुक्ति=गत्यर्थक धातुओं के अगुणे=कथित कर्म में लाकारादि प्रत्यय होने चाहियें। जैसे—अकर्मक—आसितव्यो देवदत्ता यज्ञदत्तेन। गत्यर्थक—अजा नेतव्या ग्रामम्। महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि कहते हैं कि हे वैयाकरण लोगो! अगाध बुद्धिवाले पाणिनि आचार्य का यह मत है, तुम लोग जानो ॥ २४ ॥

अब जो मत अन्य बहुत आचार्य्यों का है, सो चौथी कारिका से दिखाते हैं—

६५३—का०—प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्।
अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्त्तुश्च कर्मणः ॥ २५ ॥

—म० १।४।५१॥

जो द्विकर्मक धातु हैं, उनके प्रधान कथित कर्म्म में लकारादि प्रत्यय होने चाहियें।

---

१. यह संकेत उन लोगों की ओर है कि जिन का मत प्रथम कारिका से कथित कर्म में लकारादि प्रत्ययों का होना दिखलाया है॥

जैसे—अजां नयति ग्रामम्। अजा नीयते ग्रामम्। अजा नीता ग्रामम्। यहां प्रधान कथित अजा कर्म्म है, उस में लकारादि के होने से प्रथमा विभक्ति, और ग्राम में अनभिहित होने से द्वितीया होती है।

तथा दुह्यादि अर्थात् जो धातु प्रथम कारिका में गिनाये हैं, उनके अकथित अर्थात् गौण कर्म्म में लकारादि प्रत्यय होने चाहियें। इस के उदाहरण दे चुके हैं।

और ण्यन्तावस्था में जिन धातुओं के जिस कर्त्ता की कर्म्म संज्ञा होती है, उन के उसी कर्म्म में लकारादि प्रत्यय होने चाहियें जैसे—यज्ञदत्तो गच्छति ग्रामम्। यहां 'यज्ञदत्त' गम धातु का प्रथम स्वतन्त्र कर्त्ता और 'ग्राम' कर्म है। जब उस का ण्यन्तावस्था में प्रयोजक कर्त्ता 'देवदत्त' होता है, तब 'यज्ञदत्त' की कर्म्म संज्ञा हो जाती है—देवदत्तो यज्ञदत्तं ग्रामं गमयति, यहां अप्रधान यज्ञदत्त है, उसी में लकार होने से। देवदत्तेन यज्ञदत्तो ग्रामङ्गम्यते, यहाँ गौण कर्म्म यज्ञदत्त में प्रथमा विभक्ति होती है, और ग्राम में द्वितीया हो जाती है।

यह चौथी कारिका से जो लकारादि प्रत्यय विधान में व्यवस्था की है, सो बहुत ऋषि लोगों का सिद्धान्त है। इससे यही व्यवस्था सब से बलवान् है॥ ५॥

जो प्रथम कारिका में कहे हैं, उन से भिन्न द्विककर्म धातु कितने हैं, सो पांचवीं कारिका से दिखाते हैं—

६५४—का०—नीवह्योर्हरतेश्चाऽपि गत्यर्थानां तथैव च।
द्विकर्म्मकेषु ग्रहणं द्रष्टव्यमिति निश्चयः॥ २६॥

—म० १। ४। ५१॥

नी, वहि, हरति और ण्यन्तावस्था में जिन का कर्त्ता कर्म्म होता है, वे सब द्विकर्म्मकों में गिने जाते हैं ।। २६ ।।

अकर्म्मक धातु सकर्म्मक कैसे होते हैं, यह विषय छठी कारिका से दिखाते हैं—

६५५—का०—

कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम् ।। २७ ।।

—म० १ । ४ । ५१ ।।

काल—क्षण आदि, भाव[1]—होना, अध्वगन्तव्य—मार्ग में चलना, ये तीनों सब अकर्म्मकों के योग में कर्मसंज्ञक हो जाते हैं ।

जैसे काल—मासमास्ते । मासं स्वपिति—अयुक्त एक मास बैठा रहता है, और एक मास सोता है । यहां महीना कर्म्म हो गया । प्रयोजन यह है कि एक महीना बैठ के काटता है, और एक महीना सोके काटता है, तो बैठने और सोने का कर्म्म महीना हो गया ।

भाव—गोदोहमास्ते । गोदोहं स्वपिति । यहां गौ का जो दोहना भाव है, वही उसके बैठने और सोने का कर्म है । अध्वगन्तव्य—क्रोशमास्ते । क्रोशं स्वपिति—सवारी में बैठ के मार्ग में चलता हुआ मनुष्य कोश भर बैठा कोश भर सोया, अर्थात् जो दो कोश बैठने और सोने में मार्ग व्यतीत किया, वही बैठने सोने का कर्म्म हो गया है ।। २७ ।।

---

१. यहां 'भावं भवनं भूतिं भवति देवदत्तः' जैसे भावार्थवाची भाव आदि शब्द भवति क्रिया के कर्म्म होने से भू धातु सकर्म्मक हो जाता है, वैसे सब अकर्म्मक धातुओं की व्यवस्था जाननी । 'देवदत्त एधनमेधते' इत्यादि, यहां कृदभिहितो भावो द्रव्यवद्भवति । महाभाष्य अ० ३ । पा० १ । सू० ६६ कहा है कि तव्यदादि प्रत्ययों से कथित भाव है, वह द्रव्य के समान होता है ।।

६५६—वा०—देशश्चाकर्मणां कर्मसंज्ञो भवतीति वक्तव्यम् ।।२८।।
—अ० १ । ४ । ५१ ।।

इस वार्तिक से अकर्मक धातुओं का देश भी कर्मसंज्ञक होता है। जैसे—पञ्चालान् स्वपिति—कोई विमान आदि यान में बैठा हुआ पंजाब देश भर सोता ही चला गया, उसके सोने का कर्म पंजाब देश हो गया ।। २८ ।।

६५७—का०—विपरीतन्तु यत्कर्म तत्कल्म कवयो विदुः ।।२९।।
—म० । १ । ४ । ५१ ।।

ईप्सिततम कर्म से भिन्न जो कर्म है, उस को विद्वान् लोग 'कल्म' कहते हैं।

जिस के बीच में कर्म संज्ञा के सब काम नहीं किये जाते किन्तु केवल द्वितीया विभक्ति मात्र ही की जाती है, तथा जिस किसी में अन्य भी कर्मसंज्ञा के कार्य होते हों, उससे जो दूसरा होता है वह विपरीत कर्म कहाता है, उसी को 'कल्म' कहते हैं। जैसे—भारं वहति ग्रामम्, यहां प्रधान जो भार कर्म है उसमें तो कर्म के सब कार्य्य होते हैं, और ग्राम शब्द में केवल द्वितीया विभक्ति होती है। इससे इसकी 'कल्म' संज्ञा है।

तथा—गां दोग्धि पयः, यहां प्रधान कर्म तो पय है परन्तु लकारादि प्रत्यय विधान कर्म संज्ञा के कार्य हैं, वे गो शब्द में किये जाते हैं। इससे यहां पय शब्द की 'कल्म' संज्ञा है।

यहां विशेष कल्म संज्ञा रखने के लिये कर्म शब्द के रेफ को लकारादेश (संज्ञाछन्दसो०) इस वार्त्तिक से संज्ञा मान के किया है ।। २९ ।।

६५८—गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणिकर्त्ता स णौ ॥ ३० ॥ —अ० १ । ४ । ५२ ॥

गत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक, प्रत्यवसानार्थक अर्थात् भोजनार्थक, शब्द-कर्मक और अकर्मक, इन धातुओं का जो णिच् प्रत्यय के पहिले कर्त्ता है, वह णिच् के हुए पश्चात् कर्मसंज्ञक हो ।

गत्यर्थक—गच्छति ग्रामं देवदत्तः, गमयति ग्रामं देवदत्तम् । याति ग्रामं देवदत्तः, यापयति ग्रामं देवदत्तं यज्ञदत्तः । यहां णिच् के पहिले का जो कर्त्ता देवदत्त है वह णिच् के पश्चात् कर्मसंज्ञक हो के उससे द्वितीया हो जाती है । बुद्ध्यर्थक—जानाति विप्रः शास्त्रम्, ज्ञापयति विप्रं शास्त्रम् । बुद्ध्यते देवदत्तः शास्त्रम्, बोधयति देवदत्तं शास्त्रम् ।

प्रत्यवसानार्थक—अश्नाति फलानि माणवकः, आशयति फलानि माणवकम् । भुङ्क्त ओदनं बालकः, भोजयत्योदनं बालकम् । शब्द-कर्मक—ब्रूते धर्मं ब्राह्मणः, वाचयति धर्मं ब्राह्मणम् । उपदिशति धर्मं ब्राह्मणः, उपदेशयति धर्मं ब्राह्मणम् । अकर्मक—स्वपिति बालः, स्वापयति धात्री बालम् । पुत्रः शेते, माता पुत्रं शाययति । यहां सर्वत्र जो अण्यन्तावस्था में कर्त्ता है वही णिच् में कर्म हो गया है ।

इस सूत्र में 'गत्यर्थादि' धातुओं का ग्रहण इसलिये है कि—पचत्योदनं देवदत्तः, पाचयत्योदनं देवदत्तेन, यहां कर्म संज्ञा के न होने से कर्त्ता में तृतीया विभक्ति होती है । और 'अणिकर्त्ता' ग्रहण इसलिये है कि—देवदत्तो यज्ञदत्तं गमयति, तमन्यो गमयति देवदत्तेन, यहां णिच् के परे गम धातु का कर्त्ता है, सो दूसरे णिच् में कर्म्मसंज्ञक नहीं होता ॥ ३० ॥

अब आगे इस सूत्र के वार्तिक लिखते हैं—

६५९—वा०—दृशेः सर्वत्र ॥ ३१ ॥ —अ० १ । ४ । ५२ ॥

सर्वत्र अर्थात् दोनों पक्ष में दृश धातु का जो अण्यन्तावस्था का कर्त्ता है, वह ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञक होवे।

पश्यति रूपतर्कः कार्षापणम्, दर्शयति रूपतर्कं कार्षापणम्, यहां रूपतर्क शब्द की कर्म्म संज्ञा होती है ।। ३१ ।।

६६०-वा०-आदिखादिनीवहीनां प्रतिषेधः ।। ३२ ।।

—अ० १ । ४ । ५२ ।।

आदि, खादि इन दो धातुओं के प्रत्यवसानार्थ होने और नी, वहि इन दो के गत्यर्थक होने से कर्म्म संज्ञा प्राप्त है, इसलिये प्रतिषेध किया है।

अद—अत्ति देवदत्तः, आदयति देवदत्तेन। यहां अण्यन्त धातु के कर्त्ता देवदत्त की कर्म संज्ञा न होने से द्वितीया विभक्ति न हुई ।। ३२ ।।

तथा बहुत आचार्यों का ऐसा मत है कि—

६६१-वा०-अपर आह—

सर्वमेव प्रत्यवसानकार्यमदेर्न भवतीति वक्तव्यं परस्मैपदमपि। इदमेकमिष्यते, क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्य इति ।। ३३ ।।

—अ० १ । ४ । ५२ ।।

प्रत्यवसानार्थ धातुओं को जितना कार्य होता है, उसमें से अद धातु को कुछ भी न हो, तथा निगरणार्थ मान के जो परस्मैपद[1] प्राप्त है वह भी न हो।

---

१. परस्मैपद (निगरणचलनार्थेभ्यश्च ।। अ० १।३।८७) इस सूत्र में निगरणार्थ शब्द प्रत्यवसानार्थ का पर्य्यायवाची है, और प्रत्यवसान तथा

अत्ति देवदत्तः, आदयते देवदत्तेन, यहां आत्मनेपद होता है। प्रत्यवसानार्थ का एक कार्य अद धातु को होना चाहिये—इदमेषां जग्धम्[1]।

खादति देवदत्तः, खादयति देवदत्तेन, यहां भी अणि के कर्त्ता देवदत्त शब्द की कर्म्म संज्ञा न हुई। नी—नयति भारं देवदत्तः, नाययति भार देवदत्तेन। यहां नी धातु के कर्त्ता देवदत्त की कर्म्म संज्ञा न होने से उस में द्वितीया न हुई। वह—वहति भारं देवदत्तः, वाहयति भारं देवदत्तेन। यहां सर्वत्र णिच् में कर्त्ता की कर्म संज्ञा नहीं होती॥ ३३॥

परन्तु 'वह' धातु में इतना विशेष है कि—

६६२–वा०–वहेरनियन्तृकर्त्तृकस्य[2] ॥ ३४ ॥

—अ० १। ४। ५२॥

यहां पूर्व वार्त्तिक से निषेध की अनुवृत्ति चली आती है। नियन्ता अर्थात् जहां सारथी 'वह' धातु का कर्त्ता न हो, वहीं कर्म संज्ञा का निषेध हो, अन्यत्र नहीं।

निगरण इन दोनों का शब्द भेद होने से 'परस्मैपदमपि' यह कहा है, नहीं तो प्रत्यवसान के कहने से हो ही जाता॥

१. 'जग्धम्' यहाँ अद धातु के प्रत्यवसानार्थ होने से अधिकरण कारक में क्त प्रत्यय विधान है, सो प्रत्यवसान से सब कार्य्यों के निषेध में इसका भी निषेध पाया था। 'एषाम्' यह कर्म्म में षष्ठी और 'जग्धम्' अधिकरण में क्त प्रत्यय है। (इदमेकमिष्यते) इस से निषेध का निषेध किया है॥

२. पूर्व वार्त्तिक से सामान्य अर्थ में 'वह' धातु के अणि कर्त्ता की कर्म संज्ञा का प्रतिषेध है, इस वार्त्तिक से उसी का नियम करते हैं कि वह निषेध नियन्ता जहां कर्त्ता हो वहां न लगे॥

जैसे—वहन्ति बलीवर्दा यवान् वाहयति बलीवर्दान यवान्[1]। यहां कर्म संज्ञा होके द्वितीया विभक्ति हो जाती है ॥ ३४ ॥

६६३—वा०—भक्षेरहिंसार्थस्य[2] ॥ ३५ ॥

—अ० १।४।५२

यहां भी पूर्व वार्त्तिक से 'प्रतिषेधः' इस पद की अनुवृत्ति चली आती है।

जो हिंसार्थ से भिन्न अर्थ में वर्त्तमान भक्ष धातु, उस का अणि में जो कर्त्ता, उसकी णिच् में कर्म संज्ञा न हो।

जैसे—भक्षयति पिण्डीं देवदत्तः, भक्षयति पिण्डीं देवदत्तेन।

इस वार्त्तिक में 'हिंसार्थ का निषेध' इसलिये है कि—भक्षयति बलीवर्दान् यवान्—खेत के छोटे छोटे जौ बैलों से चराये। यहां खेतवाले की हिंसा समझी जाती है। क्योंकि खेत ही से उसका जीवन है। इससे कर्म संज्ञा का निषेध नहीं हुआ ॥ ३५ ॥

६६४—वा०—अकर्मकग्रहणे कालकर्मणामुपसंख्यानम्[3] ॥३६॥

—अ० १।४।५२।

---

१. यहां प्रेरक हांकने वाले की विवक्षा नहीं है, इसलिये वाहन क्रिया के स्वतन्त्र कर्त्ता बैल हो गये ॥

२. यह वार्त्तिक सूत्र से ही सम्बन्ध रखता है। भक्ष धातु के प्रत्यवसानार्थ होने से सामान्य अर्थों में भक्ष धातु के अणिकर्त्ता की कर्म संज्ञा प्राप्त है। सो जहां हिंसा अर्थात् पीड़ा पहुँचाना अर्थ हो, वहीं अणिकर्त्ता की कर्म संज्ञा हो, और अहिंसा में निषेध हो जावे ॥

३. कालकर्मवाले धातु अकर्मकों के समान समझे जाते हैं, इसलिये अकर्मकों के साथ इन का उपसंख्यान किया है ॥

जो अकर्मक धातुओं का सूत्र में ग्रहण है, वहां कालकर्मवाले धातुओं का भी ग्रहण समझना चाहिये ।

जैसे—मासमास्ते देवदत्तः, मासमासयति देवदत्तम् । यहां मास प्रथम कर्म है, अणि के कर्त्ता देवदत्त की कर्म संज्ञा होके द्वितीया विभक्ति हो गई है ।। ३६ ।।

६६५–हृक्रोरन्यतरस्याम् ।। ३७ ।। —अ० १ । ४ । ५३ ।।

हृ और कृ धातु का जो अण्यन्तावस्था का कर्त्ता है, वह ण्यन्तावस्था में विकल्प करके कर्मसंज्ञक हो ।

जैसे—अभ्यवहारयति सैन्धवान्सैन्धवैर्वा । विकारयति सैन्धवान् सैन्धवैर्वा[1] ।। ३७ ।।

६६६–वा०–हृक्रोर्वावचनेऽभिवाददृशोरात्मनेपद उपसंख्यानम् ।। ३८ ।। —अ० १ । ४ । ५३ ।।

जो अभिपूर्वक वद और दृश धातु का अणि में कर्त्ता है, वह ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञक विकल्प करके हो, आत्मनेपद में ।

जैसे—अभिवदति गुरुं देवदत्तः, अभिवादयते गुरुं देवदत्तेन देवदत्तं वा । पश्यन्ति भृत्या राजानम्, दर्शयते भृत्यै राजा दर्शयते भृत्यान् राजा वा । यहां अभिपूर्वक वद धातु शब्दकर्मक और दृश धातु बुद्ध्यर्थक है, वहां तो पूर्व सूत्र से कर्म संज्ञा प्राप्त थी,

---

१. धातुओं के अनेकार्थ होने से कई अर्थों में कर्मसंज्ञा प्राप्त है, और कई में नहीं । जैसे—अभ्यव और आङ्पूर्वक हृ धातु प्रत्यवसानार्थक है, वहां प्राप्त है, अन्यत्र नहीं । तथा विपूर्वक कृधातु शब्दकर्मक और कहीं अकर्मक है, वहां प्राप्त, अन्यत्र अप्राप्त । इस प्रकार यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है ।।

अन्य अर्थ में नहीं। इस वार्त्तिक से सर्वत्र विकल्प करके
इसी से यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा कहाती है।

यह कर्मकारक पूरा हुआ ॥

—:※※:—

(३) करणकारक

६६७–साधकतमं करणम् ॥ ३९ ॥ —अ० १। ४। ४२ ॥

जो क्रिया की सिद्धि करने में मुख्य साधक हो, वह कारक करणसंज्ञक हो ॥ ३९ ॥

इसका फल—

६६८–कर्तृकरणयोस्तृतीया ॥ ४० ॥ —अ० २। ३। १८ ॥

अनभिहित कर्त्ता और करण कारक में तृतीया विभक्ति हो।

कर्त्ता—जैसे—देवदत्तेन कृतम्; देवदत्तेन क्रियते—देवदत्त ने किया, यहां देवदत्त कर्त्ता। और—दात्रेण यवान् लुनाति; परशुना काष्ठं वृश्चति[1], इत्यादि—दरांति से जवों को काटता और कुल्हाड़े से लकड़ी को छीलता है, यहां दरांति और कुल्हाड़ा करण हैं ॥ ४० ॥

---

१. यहाँ 'लुनाति' खेत का लुनना और 'वृश्चति' वृक्ष का काटना, इन क्रियाओं के मुख्य साधन दात्र और कुल्हाड़ी हैं, इन के विना उक्त क्रिया कदाचित् नहीं हो सकती ॥

६६९–वा०–तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्[1] ।।४१।।

—अ० २ । ३ । १८ ।।

प्रकृति आदि शब्दों से भी तृतीया विभक्ति हो ।

प्रकृत्या दर्शनीयः—यह स्वभाव से देखने योग्य है। प्रायेण वैयाकरणः—यह कुछेक व्याकरण भी पढ़ा है, इत्यादि । यहां अनभिहित कर्त्ता करण कारकों के न होने से तृतीया विभक्ति नहीं प्राप्त थी, सो इस वार्त्तिक से विधान की है । प्रकृति आदि शब्द बहुत हैं, सो अष्टाध्यायी महाभाष्य के पढ़ने से आवेंगे ।। ४१ ।।

६७०–सहयुक्तेऽप्रधाने ।। ४२ ।।　　　—अ० २ । ३ । १९ ।।

सह शब्द युक्त अप्रधान कर्त्ता कारक में तृतीया विभक्ति होती है।

जैसे—पुत्रेण सहागतः पिता—पुत्र सहित पिता आया, इत्यादि । यहां पुत्र अप्रधान है, उस में तृतीया विभक्ति हो गई, प्रधान पिता में न हुई ।। ४२ ।।

६७१–येनाङ्गविकारः ।। ४३ ।।　　　—अ० २ । ३ । २० ।।

जिस अङ्ग अवयव से शरीर का विकार प्रसिद्ध हो, उस अवयव में तृतीया विभक्ति हो ।

जैसे—शिरसा खल्वाटः । अक्ष्णा काणः—यह शिर से खल्वाट और आंख से काणा है, इत्यादि ।। ४३ ।।

६७२–इत्थंभूतलक्षणे ।। ४४ ।।　　　—अ० २ । ३ । २१ ।।

---

१. यहाँ से लेके तृतीया विभक्ति विधायक प्रकरण में जो कुछ सूत्र वार्तिक हैं, वे अपूर्व विधायक इसलिये समझे जाते हैं कि उन में तृतीया किसी से प्राप्त नहीं है ।।

इत्थंभूत अर्थात् इस प्रकार का वह है, इस अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से तृतीया विभक्ति होवे।

जैसे—अपि भवान् मेखलया ब्रह्मचारिणमद्राक्षीत्। धर्मेण सुखम्। पापेन दुःखम्, इत्यादि। यहां मेखला शब्द से ब्रह्मचारी का स्वरूप, धर्म से सुख और पाप से दुःख जाना जाता है।

इत्थंभूत से भिन्न में तृतीया विभक्ति न हो। जैसे—वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्, इत्यादि॥ ४४॥

६७३–संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि[1]॥ ४५॥

—अ० । २ । ३ । २२॥

संपूर्वक ज्ञा धातु के अनभिहित कर्म में तृतीया विभक्ति विकल्प करके होवे, पक्ष में द्वितीया हो।

मात्रा संजानीते बालः। मातरं सजानीते बालः॥ ४५॥

६७४–हेतौ॥ ४६॥　　—अ० २ । ३ । २३॥

हेतुवाची शब्द में तृतीया विभक्ति हो।

विद्यया यशः[2]—विद्या से कीर्ति होती। और—धनेन दानम्—धन से दान होता है, इत्यादि॥ ४६॥

६७५–वा०–निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम्॥४७॥

—अ० २ । ३ । २३॥

---

१. यहां अनभिहित कर्म में द्वितीया ही प्राप्त है तृतीया नहीं, इस कारण यह अप्राप्त विभाषा है। और उसी द्वितीया का अपवाद यह तृतीया समझी जाती है, पक्ष में द्वितीया भी होती है॥

२. 'हेतु' उस को कहते हैं कि जिस के साथ जिसका प्रयोग हो उसका निमित्त कारण समझा जावे। यहां भी विद्या यश का निमित्त कारण है॥

निमित्त, कारण और हेतु इन तीन शब्दों और इन के सम्बन्धी शब्दों से सब विभक्ति बहुल करके होती हैं।

जैसे—निमित्त—किं निमित्तं वसति, पठति, गच्छति, आयाति, करोति, तिष्ठति, इत्यादि। केन निमित्तेन; कस्मै निमित्ताय; कस्मान्निमित्तात्; कस्य निमित्तस्य; कस्मिन्निमित्ते च। करण—किङ्कारणम्; केन कारणेन; कस्मै कारणाय; कस्मात् कारणात्; कस्य कारणस्य; कस्मिन् कारणे च वसति। हेतु—को हेतुः; कं हेतुम्; केन हेतुना; कस्मै हेतवे; कस्माद्धेतोः; कस्य हेतोः; कस्मिन् हेतौ च वसतीत्यादि[1] ॥ ४७ ॥

६७६–अकर्त्तर्य्यृणे पञ्चमी ॥ ४८ ॥ —अ० २। ३। २४॥

ऋण अर्थ में कर्त्ताभिन्न हेतुवाची शब्दों से पञ्चमी विभक्ति हो।

जैसे—शताद् बद्धः, इत्यादि—ऋणी को सौ रुपये ऋण होने के कारण ऋणवाले ने बांधा।

यहां 'अकर्त्तरि' ग्रहण इसलिये है कि—शतेन बन्धितः; यहां सौ रुपयों से बंधवाया। इस प्रयोजक कर्त्ता की विवक्षा होने से पञ्चमी विभक्ति न हुई ॥ ४८ ॥

६७७–विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् ॥ ४९ ॥ —अ० २। ३। २५॥

स्त्रीलिङ्ग को छोड़ के पुल्लिङ्ग वा नपुंसक लिङ्ग में वर्त्तमान जो गुणवाची हेतु शब्द, उससे विकल्प करके पञ्चमी विभक्ति हो।

जैसे—मौढ्याद् बद्धः। मौढ्येन बद्धः, इत्यादि—यह मूर्ख जन अपनी मूर्खता से आप ही बँधा है।

---

१. निमित्त, कारण और हेतु शब्दों से सब वचन यथायोग्य सब कर्त्ता और क्रिया भी होती है, परन्तु मुख्य प्रयोजन आप्त लोगों के प्रयोग में विषय में साधुत्व करने के लिये यह वचन है॥

यहां 'स्त्रीलिङ्ग का निषेध' इसलिये किया है कि—प्रज्ञया पूजितः, इत्यादि। यहां पञ्चमी विभक्ति न हो ॥ ४९ ॥

६७८–षष्टी हेतुप्रयोगे ॥ ५० ॥ —अ० २। ३। २६ ॥

हेतु शब्द के प्रयोग में षष्ठी विभक्ति हो।

जैसे—विद्याया हेतोर्गुरुकुले वसति, इत्यादि—विद्या ग्रहण के हेतु से यह ब्रह्मचारी गुरुकुल में वसता है ॥ ५० ॥

६७९–सर्वनाम्नस्तृतीया च ॥ ५१ ॥ —अ० २। ३। २७ ॥

सर्वनामवाची विशेषण सहित हेतु शब्द के प्रयोग में तृतीया और षष्ठी विभक्ति हों।

जैसे—केन हेतुना कस्य हेतोर्वा वसति, इत्यादि—यह जन किस हेतु से वसता है ॥ ५१ ॥

अब करण संज्ञा में जो विशेष सूत्र हैं, सो लिखते हैं—

६८०–दिवः कर्म च ॥ ५२ ॥ —अ० १। ४। ४३ ॥

पूर्वसूत्र[1] से नित्य करण संज्ञा प्राप्त थी, उसका बाधक यह सूत्र है।

जो दिव् धातु के प्रयोग में साधकतम अर्थात् क्रिया की सिद्धि में मुख्य हेतु कारक है, वह कर्म्मसंज्ञक और चकार से करणसंज्ञक भी हो।

जैसे—अक्षानक्षैर्वा दीव्यति, इत्यादि[2]—पासों से खेलता है। ॥ ५२ ॥

---

१. पूर्वसूत्र—(साधकतमं करणम् ॥ अ० १। ४। ४२) कारकीये—३९।

२. इत्यादि सूत्रों के उदाहरणों में केवल करण संज्ञा होके तृतीया विभक्ति प्राप्त थी, उसके ये सूत्र अपवाद हैं। बहुव्यापक उत्सर्ग और

६७१–परिक्रयणे संप्रदानमन्यतरस्याम् ।। ५३ ।।

—अ० १ । ४ । ४४ ।।

यहां भी (साधक० ।। अ० १ । ४ । २४) इस पूर्व से नित्य करण संज्ञा पाती थी, सो इस सूत्र से करण और पक्ष में संप्रदान संज्ञा की है ।

परिक्रयण अर्थात् जो सब प्रकार खरीदने अर्थ में साधकतम कारक है, वह संप्रदानसंज्ञक विकल्प करके हो, और पक्ष में करणसंज्ञक हो ।

जैसे—शताय शतेन वा परिक्रीणाति, इत्यादि—सौ रुपयों से खरीदता है ।। ५३ ।।

यह करणकारक पूरा हुआ ।।

—:※※:—

(४) सम्प्रदानकारक

६८२–कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् ।। ५४ ।।

—अ० १ । ४ । ३२ ।।

अत्यन्त इष्ट पदार्थ समझ के जिसके लिये देने का अभिप्राय किया जाय, वह कारक सम्प्रदानसंज्ञक होवे ।। ५४ ।।

अल्पव्यापक अपवादसंज्ञक, उत्सर्ग सूत्रों ही के विषय में अपवाद सूत्र प्रवृत्त होते, और अपवाद सूत्रों के विषय में उत्सर्ग सूत्र प्रवृत्त नहीं होते, किन्तु अपवाद विषयों को छोड़ के उत्सर्ग सूत्रों की प्रवृत्ति होती है, ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये ।

इसका फल—

६८३–चतुर्थी संप्रदाने ।। ५५ ।। —अ० २ । ३ । १३ ।।

संप्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति हो ।

जैसे—शिष्याय विद्यां ददाति[1], इत्यादि—आचार्य शिष्य को विद्या देता है ।। ५६ ।।

६८४–वा०–चतुर्थीविधाने तादर्थ्य उपसंख्यानम्[2] ।। ५६ ।।

—अ० २ । ३ । १३ ।।

तादर्थ्य अर्थात् जिस कार्य के लिए कारणवाची शब्द का प्रयोग किया हो, उस कार्य्यवाची शब्द से चतुर्थी विभक्ति होवे ।

जैसे—यूपाय दारु । कुण्डलाय हिरण्यम्, इत्यादि—यह खंभा के लिये काष्ठ और कुंडल के लिये सोना है ।। ५६ ।।

६८५–वा०–क्लृपि संपद्यमाने ।। ५७ ।।

—अ० २ । ३ । १३ ।।

जो क्लृप धातु का उत्पन्न होनेवाला कारक है, उसमें चतुर्थी विभक्ति हो ।

जैसे—मूत्राय कल्पते यवागू । विद्यायै कल्पते बुद्धिमान् इत्यादि—मूत्र के उत्पन्न करने में यवागू और विद्या पढ़ने के लिये बुद्धिमान् समर्थ होता है ।। ५७ ।।

---

१. यहां अत्यन्त इष्ट पदार्थ विद्या है, इसी से उसकी कर्म संज्ञा हो के द्वितीया हुई है । और विद्या जिस शिष्य के लिये देने का अभिप्राय है उसी की कर्म सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी होती है ।।

२. यहां से आगे चतुर्थी-विधान-प्रकरण में जितने सूत्र वार्त्तिक लिखेंगे, उनमें सम्प्रदान संज्ञा के न होने से चतुर्थी प्राप्त नहीं, क्योंकि यहाँ कर्म से किसी का अभिप्राय सिद्ध नहीं किया जाता, इसीलिये यह सब प्रकरण है ।।

६८६–वा०–उत्पातेन ज्ञाप्यमाने ।। ५८ ।।

—अ० २ । ३ । १३ ।।

आकाश से बिजली के चमकने और ओले पत्थर आदि गिरने को 'उत्पात' कहते हैं। उस उत्पात से जो बात जानी जावे, वहां चतुर्थी विभक्ति होवे।

जैसे—वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी। कृष्णा सर्वविनाशाय दुर्भिक्षाय सिता भवेत्—पीली बिजली जो चमके तो वायु अधिक चले, इत्यादि ।। ५८ ।।

६८७–वा०–हितयोगे च ।। ५९ ।। —अ० २ । ३ । १३ ।।

हित शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति हो।

जैसे—हितमरोचकिने पाचनम्, इत्यादि—जिस की रुचि भोजन पर न हो उसके लिये पाचन औषध हितकारी है ।। ५९ ।।

६८८–क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः ।। ६० ।।

—अ० २ । ३ । १४ ।।

अनभिहित कर्मकारक में द्वितीया विभक्ति पाती थी, उसका अपवाद यह सूत्र है।

जहां क्रिया के लिये क्रिया हो, वहां अप्रयुज्यमान धातु के अनभिहित कर्मकारक में चतुर्थी विभक्ति हो।

जैसे—वृकेभ्यो व्रजति (वृकान् हन्तुं व्रजति) इत्यादि—भेड़ियों को मारने जाता है। यहां जो वृकों को मारना क्रिया है, सो हन धातु अप्रयुज्यमान है।

यहां 'कर्म' ग्रहण इसलिये है कि—वृकेभ्यो व्रजत्यश्वेन, अश्व शब्द में चतुर्थी न हो। और 'स्थानि' ग्रहण इसलिये है कि—

वृकान् हन्तुं व्रजति, यहां प्रयुज्यमान के होने से चतुर्थी विभक्ति नहीं हुई ।। ६० ।।

६८९–तुमर्थाच्च भाववचनात् ।। ६१ ।।

—अ० २ । ३ । १५ ।।

जहां अप्रयुज्यमान क्रियार्थोपपद धातु के कर्म का वाची तुमर्थभाववचन प्रातिपदिक हो, वहां उससे चतुर्थी विभक्ति हो ।

जैसे—इष्टये व्रजति[1] (इष्टिं कर्तुं व्रजति), इत्यादि—पौर्णमासी आदि में होम करने को जाता है ।

यहां 'तुमर्थ' ग्रहण इसलिये है कि —पाकं करोति, यहां चतुर्थी न हो ।। ६१ ।।

६९०–नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च ।। ६२ ।।

—अ० २ । ३ । १६ ।।

नमस्, स्वस्ति, स्वाहा स्वधा, अलम् और वषट् इन शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति होवे ।

नमस्ते रुद्र मन्यवे । स्वस्ति शिष्याय । अग्नये स्वाहा । स्वधा पितृभ्यः । अलं मल्लो मल्लाय । वषडिन्द्राय, इत्यादि[2] ।। ६२ ।।

---

१. यहां इष्टि शब्द क्रियार्थोपपद करोति धातु का भाववचन कर्म है, और व्रजन क्रिया इष्टि-सम्पादन के लिये है, इसी से इसको क्रियार्थाक्रिया कहते हैं ।

२. प्राण के लिये नमः = अन्न । अग्नि में स्वाहा = संस्कृत हवि । पितरों अर्थात् पिता आदि ज्ञानियों से स्वधा अर्थात् अपने योग्य सुशिक्षा । मल्ल को जीतने में मल्ल ही समर्थ । इन्द्र = बिजली की विद्या ग्रहण करने के लिये उत्तम क्रिया अच्छी होती है।

६९१–वा–०अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणं कर्त्तव्यम्[1] ॥ ६३ ॥
—अ० २ । ३ । १६ ॥

अलं शब्द से सामर्थ्यवाचक का ग्रहण होना चाहिये ।

क्योंकि —अलं कुरुते कन्याम्, यहां भूषण अर्थ में चतुर्थी विभक्ति न हो । और —प्रभुर्मल्लो मल्लाय । प्रभवति मल्लो मल्लाय, यहां अलं के पर्य्यायवाची प्रभु और प्रभवति शब्द के योग में भी चतुर्थी विभक्ति हो जावे ॥ ६३ ॥

६९२–मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु[2] ॥ ६४ ॥
—अ० २ । ३ । १७ ॥

इस सूत्र में मन्य निर्देश दिवादि गण के 'मन' धातु का किया है ।

जहां मन्य धातु के अप्राणिवाची अनभिहित कर्म में तिरस्कार अर्थ विदित होता हो, तो वहां विकल्प करके चतुर्थी विभक्ति हो, पक्ष में द्वित्तीया ।

त्वां तृणं मन्ये । त्वां तृणाय मन्ये, इत्यादि—मैं तुझ को तृण के तुल्य मानता हूँ, यह तिरस्कार है ।

---

१. पूर्व सूत्र में जो 'अलं' शब्द पढ़ा है, उसी का शेष यह वार्तिक है । 'अलं' शब्द के चार अर्थ हैं—भूषण; पर्य्याप्ति अर्थात् सामर्थ्य; समाप्ति और निषेध । इन सब अर्थों में इसके योग में चतुर्थी प्राप्त थी, सो नियम हो गया कि पर्य्याप्ति अर्थ में हो तो और सामर्थ्यवाची शब्दों के योग में भी हो जावे ।

२. यहां मन्य धातु से अनभिहित कर्म में केवल द्वितीया विभक्ति ही पाती है, उसी का बाधक यह सूत्र है । और इसीलिये यह अप्राप्त विभाषा कहाती है ।

यहां दिवादि विकरण के ग्रहण से—त्वां तृणं मन्ये, यहां चतुर्थी नहीं होती। यहां 'मन्य कर्म' ग्रहण इसलिये है कि—त्वां तृणं जानामि, यहां चतुर्थी न हो। 'अनादर' ग्रहण इसलिये है कि—वाचं मन्ये सरस्वतीम् यहां चतुर्थी न हो। और 'अप्राणि' ग्रहण इसलिये है कि—काकं मन्ये तत्वाम्, इत्यादि में चतुर्थी विभक्ति न हो ॥ ६४ ॥

६६३–वा०–अनावादिष्विति वक्तव्यम् ॥ ६५ ॥

—अ० २ । ३ । १७ ॥

जो इस सूत्र में अप्राणी का ग्रहण किया है, उसके स्थान में वार्तिकरूप 'अनावादिषु' ऐसा न्यास करना चाहिये। क्योंकि कहीं २ प्राणीवाची मन्य धातु के कर्म्म में भी चतुर्थी होती है।

जैसे—न त्वां श्वानं मन्ये। न त्वां शुने मन्ये, इत्यादि— मैं तुझे कुत्ते के समान नहीं मानता ॥ ६५ ॥

सम्प्रदान संज्ञा में कर्म ग्रहण इसलिये है कि—स्नातकाय कन्यां ददाति, इत्यादि—ब्रह्मचर्य्यव्रत से पूर्णविद्या पढ़े हुए सुशील पुरुष को कन्या देता है। यहां कन्या की संप्रदान संज्ञा न हो जावे। 'यं और स' इन दो शब्दों का ग्रहण इसलिये है कि—अप्राप्त की संज्ञा न हो जावे। तथा 'अभि और प्र' ग्रहण इसलिये है कि—सब काल में संप्रदान संज्ञा हो जावे, अर्थात् दिया था, देता है और देगा। अन्यथा अभि प्र न हों तो वर्तमान काल ही में संप्रदान संज्ञा होती, अन्यत्र नहीं।

६६४–वा०–कर्मणः करणसंज्ञा वक्तव्या संप्रदानस्य च कर्मसंज्ञा ॥ ६६ ॥

—अ० २ । ३ । ३२

इस वार्तिक से कर्म्म की तो करण और संप्रदान की कर्म संज्ञ होती है।

जैसे—पशुना रुद्रं यजते (पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः), इत्यादि—रुद्र अर्थात् मध्य विद्वान् को पशु देता है। यहां पशु तो कर्म है, उसकी करण संज्ञा हो के तृतीया विभक्ति हो गई। रुद्र नाम किसी मध्यम विद्वान् को पशु देता है ॥ ६६ ॥

६९५–रुच्यर्थानां प्रीयमाणः ॥ ६७ ॥ —अ० १ । ४ । ३३ ॥

जो रुच्यर्थक धातुओं के प्रयोग में तृप्त होनेवाला कारक है, वह संप्रदानसंज्ञक हो।

जैसे—ब्रह्मचारिणे रोचते विद्या, इत्यादि—ब्रह्मचारी अर्थात् नियमपूर्वक विद्या पढ़नेवाला मनुष्य विद्या से प्रसन्न और तृप्त होता है।

यहां 'प्रीयमाण' ग्रहण इसलिये है कि—विद्या शब्द की संप्रदान संज्ञा न हो ॥ ६७ ॥

६९६–श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः ॥ ६७ ॥

—अ० १ । ४ । ३४ ॥

श्लाघ, ह्नुङ्, स्था और शप, इन धातुओं के प्रयोग में जिस को जानने की इच्छा की जावे, वह कारक संप्रदानसंज्ञक होवे।

जैसे—पुत्राय श्लाघते। जाराय ह्नुते। विद्यायै तिष्ठते। दुष्टाय शपते[१], इत्यादि—यह स्त्री पुत्र की प्रशंसा, व्यभिचारी को दूर करती, विद्या के लिये खड़ी, और दुष्ट को शाप देती है।

यहां 'ज्ञीप्स्यमान' ग्रहण इसलिये है कि—जिस को जनावे उसी की संप्रदान संज्ञा होवे, धर्म की न हो जाय। जैसे—पिता पुत्राय धर्मं श्लाघते, इत्यादि ॥ ६८ ॥

---

१. यह दुष्ट को पुकारना है, वह उसी को जनाया जाता है, इसलिये वह सम्प्रदान है।

६९७–धारेरुत्तमर्णः ॥ ६९ ॥ —अ० १ । ४ । ३५ ॥

जो किसी को ऋण देवे वह 'उत्तमर्ण' कहाता है। जो ण्यन्त धृ धातु के प्रयोग में उत्तमर्ण कारक है, वह संप्रदानसंज्ञक हो।

जैसे—देवदत्ताय शतं सहस्रं वा धारयति, इत्यादि—देवदत्त के सौ वा हजार रुपये ऋण यज्ञदत्त धराता है। यहां देवदत्त ऋण का देनेवाला होने से उत्तमर्ण और यज्ञदत्त लेनेवाला होने से अधमर्ण कहाता है। यहां शेष कारक के होने से षष्ठी विभक्ति पाती थी, उसका अपवाद संप्रदान संज्ञा हो के चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

'उत्तमर्ण' ग्रहण इसलिये है कि उस सौ वा हजार की संप्रदान संज्ञा न हो जाय ॥ ६९ ॥

६९८–स्पृहेरीप्सितः ॥ ७० ॥ —अ० । १ । ४ । ३६ ॥

जो स्पृह धातु के प्रयोग में ईप्सित अर्थात् जिस पदार्थ के ग्रहण की इच्छा होती है, वह संप्रदानसंज्ञक हो।

जैसे—धनाय स्पृहयति, इत्यादि—भोगी मनुष्य धन मिलने की इच्छा करता है। यहां धन उसको इष्ट है, इस से धन की संप्रदान संज्ञा हो के चतुर्थी विभक्ति हो गई।

'ईप्सित' ग्रहण इसलिये है कि—भोग के कर्त्ता की संप्रदान संज्ञा न हो जाय ॥ ७० ॥

६९९–क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः[1] ॥ ७१ ॥
—अ० । १ । ४ । ३७ ॥

क्रुध, द्रुह, ईर्ष्य, असूय इन के तुल्यार्थ धातुओं के प्रयोग में जिसके प्रति कोप किया जाय, वह कारक संप्रदानसंज्ञक हो।

---

१. यह सूत्र कर्मसंज्ञा का अपवाद है ॥

जैसे—क्रुध—दुष्टाय क्रुध्यति । द्रुह—शत्रवे द्रुह्यति । ईर्ष्य—सपत्न्या ईर्ष्यति । असूय—विदुषेऽसूयति—राजा दुष्ट पर क्रोध, शत्रु से द्रोह, स्वपति की दूसरी स्त्री से अप्रीति, और मूर्ख जन विद्वान् की निन्दा करता है ।

यहां 'जिस के प्रति कोप हो', इसका ग्रहण इसलिये है कि—भिक्षुको भिक्षुकमीर्ष्यति, इत्यादि में सम्प्रदान संज्ञा न हो ।। ७१ ।।

७००—क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म ।। ७२ ।।

—अ० । १ । ४ । ३८ ।।

पूर्व से सम्प्रदान संज्ञा प्राप्त थी, उसका बाधक यह सूत्र है ।

उपसर्गयुक्त क्रुध और द्रुह धातु के प्रयोग में जिस के प्रति कोप हो, वह कारक कर्मसंज्ञक हो ।

जैसे—दुष्टमभिक्रुध्यत्यभिद्रुह्यति वा, इत्यादि ।

यहां—'उपसर्गयुक्त' का ग्रहण इसलिये है कि—दुष्टाय क्रुध्यति द्रुह्यति वा, इत्यादि में कर्म संज्ञा न हो जाय ।। ७२ ।।

७०१—राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः ।। ७३ ।।

—अ० १ । ४ ।३९ ।।

राध और ईक्ष धातु के प्रयोग में जिसका विविध प्रकार का प्रश्न हो, वह कारक संप्रदानसंज्ञक हो ।

जैसे—शिष्याय विद्यां राध्नोति ईक्षते वा गुरुः, इत्यादि—आचार्य विद्यार्थी के लिये विद्या को सिद्ध और प्रत्यक्ष कराता है ।

यहां 'राध और ईक्ष' का ग्रहण इसलिये है कि—इनके योग से अन्यत्र संप्रदान संज्ञा न हो । 'यस्य' ग्रहण इसलिये है कि—विप्रश्न की संप्रदान संज्ञा न हो जावे ।। ७३ ।।

७०२–प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता ।। ७४ ।।

—अ० १ । ४ । ४० ।।

जो प्रति और आङ्पूर्वक श्रु धातु के प्रयोग में पूर्व का कर्त्ता कारक हो, वह संप्रदानसंज्ञक होवे ।

जैसे—पूर्व देवदत्तो विद्यां याचते । देवदत्ताय विद्यां प्रतिशृणोत्याशृणोति वा विद्वान् इत्यादि—प्रथम देवदत्त विद्या को चाहता है, उसको विद्वान् सुनाता है ।

'पूर्वस्य' ग्रहण इसलिये है कि—विद्वान् की संप्रदान संज्ञा न हो जावे । यहां 'प्रति और आङ् का ग्रहण इसलिये है कि—ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा और आरम्भ से अन्त तक पढ़ना और पढ़ाना चाहिये ।। ७४ ।।

७०३–अनुप्रतिगृणश्च ।। ७५ ।।

—अ० १ । ४ । ४१ ।।

जो अनु और प्रतिपूर्वक गृ धातु के प्रयोग में पूर्व का कर्त्ता कारक हो, तो वह संप्रदानसंज्ञक हो ।

जैसे—शान्ताय विद्यामनुगृणाति प्रतिगृणाति वा, इत्यादि—शान्तिमान् विद्यार्थी के लिये विद्या का उपदेश करता है ।

इस सूत्र में चकार पूर्व के कर्त्ता की अनुवृत्ति के लिये है ।। ७५ ।।

यह संप्रदानकारक पूरा हुआ ।।

—:**:—

(५) अपादानकारक

७०४–ध्रुवमपायेऽपादानम् ।। ७७ ।। —अ० १ । ४ । २४ ।।

'ध्रुव' उस को कहते हैं कि जो पदार्थों के पृथक् होने में निश्चल रहे । वह कारक अपादानसंज्ञक हो ।। ७६ ।।

इस का फल—

७०५–अपादाने पञ्चमी ।। ७७ ।। —अ० २ । ३ । २८ ।।

अपादान कारक में पञ्चमी विभक्ति हो ।

जैसे—ग्रामादागच्छति । वृक्षात्पर्णं पतति, इत्यादि—ग्राम से मनुष्य आता है । वृक्ष से पत्ते गिरते हैं । यहां ग्राम और वृक्ष निश्चल हैं, उनमें पञ्चमी हो जाती है ।

प्रश्न—जहां वियोग के बीच में दोनों चलायमान हों वहां किसकी अपादान संज्ञा समझनी चाहिये । जैसे—रथात्प्रवीतात्पतितः । धावतस्त्रस्ताद्वाऽश्वात्पतितः—भागते हुए रथ से गिरा; भागते वा डरते हुए घोड़े से गिरा । यहां रथ और घोड़े की अपादान संज्ञा नहीं होनी चाहिये, क्योंकि वे तो चलायमान हैं, और गिरा हुआ मनुष्य निश्चल होता है ।

उत्तर—जिस रथ वा घोड़े के स्थल पीठ से गिरता है वह निश्चल है, उसकी अपादान संज्ञा की है ।। ७७ ।।

७०६–वा०–पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम् ।।७८।।

—अ० २ । ३ । २८ ।।

जहां ल्यबन्त क्रिया का लोप हो, वहां उसके कर्म में पञ्चमी विभक्ति हो ।

जैसे—प्रासादात्प्रेक्षते[1] (प्रासादमारुह्य प्रेक्षते), यहां ल्यबन्त आरुह्य क्रिया का लोप हुआ है। उसके प्रासाद कर्म में पञ्चमी विभक्ति होती है। ॥ ७८ ॥

७०७—वा०—अधिकरणे च ॥ ७९ ॥ —अ० २।३।२८ ॥

जो ल्यबन्त क्रिया का लोप हो, तो उसके अधिकरण में पञ्चमी विभक्ति हो।

जैसे—आसनात्प्रेक्षते, (आसन उपविश्य प्रेक्षते)। शयनात्प्रेक्षते, इत्यादि—आसन और शय्या पर बैठके देखता है। यहां शयन और आसन उपविश्य क्रिया के अधिकरण हैं। उन में सप्तमी की प्राप्ति होने से उसी का यह अपवाद है ॥ ७९ ॥

७०८—वा०—प्रश्नाख्यानयोश्च[2] ॥ ८० ॥ —अ० २।३।२८ ॥

प्रश्न और आख्यानवाची शब्द से पञ्चमी विभक्ति हो।

जैसे—कुतो भवान्। पाटलिपुत्राद्वसति, यहां कुतः शब्द में प्रश्नवाची के होने से और पाटलिपुत्र शब्द में आख्यान के होने से पञ्चमी विभक्ति हुई है ॥ ८० ॥

७०९—वा०—यतश्चाध्वकालनिर्माणम् ॥ ८१ ॥
—अ० । २ । ३ । २८ ॥

---

१. यहां अपादान संज्ञा के न होने से पञ्चमी किसी सूत्र से प्राप्त नहीं थी, किन्तु कर्म में द्वितीया प्राप्त थी, उसका यह अपवाद है।

२. यहां से ले के आगे इस पञ्चमी विधान प्रकरण में जितने सूत्र वार्त्तिक लिखे हैं, वे सब अपूर्वविधायक समझने चाहिये, क्योंकि वहां किसी से कोई विभक्ति का विधान नहीं किया है।

जहां से मार्ग और काल का परिमाण किया जाय, वहां पञ्चमी विभक्ति हो।

मार्गनिर्माण — जैसे — गवीधुमतः सांकाश्यं चत्वारि योजनानि— गवीधुमान् नगर से सांकाश्य नगर चार योजन सोलह कोश दूर है। यहां गवीधुमान् से मार्ग का परिमाण होने से वहां पंचमी विभक्ति हो गई। कालनिर्माण — कार्त्तिक्या आग्रहायणीमासे। यहां कार्त्तिकी शब्द में पंचमी विभक्ति हो गई ॥ ८१ ॥

७१०—वा०—तद्युक्तात्काले सप्तमी ॥ ८२ ॥

—अ० २।३।२८ ॥

जो काल के निर्माण में पंचमी विभक्ति की है। उससे उत्तर कालवाची शब्द से सप्तमी विभक्ति हो।

जैसे—कार्त्तिक्या आग्रहायणीमासे। यहां मास शब्द में सप्तमी हुई है ॥ ८२ ॥

७११—वा०—अध्वनः प्रथमा च ॥ ८३ ॥ —अ० २।३।२८ ॥

मार्ग के निर्माण में जो पञ्चमी विभक्ति की है, उससे उत्तर मार्गवाची शब्द से प्रथमा और सप्तमी दोनों विभक्ति हों।

जैसे—गवीधुमतः सांकाश्यं चत्वारि योजनानि। गवीधुमतः सांकाश्यं चतुर्षु योजनेषु। यहाँ मार्गवाची योजन शब्द से प्रथमा और सप्तमी विभक्ति हुई हैं ॥ ८३ ॥

७१२—अन्यारादितरर्त्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते ॥ ८४ ॥

—अ० २ । ३ । २९ ॥

अन्य, आरात् इतर, ऋते, दिशावाची शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच् और आहि प्रत्ययान्त अव्यय, इन शब्दों के योग में पंचमी विभक्ति होवे।

जैसे—अन्य—अन्यो देवदत्ताद्यज्ञदत्तः । आरात्—आराच्छूद्राद्व्रजकः । इतर—स्वस्मादितरं न गृह्णीयात् । ऋते—ऋते ज्ञानान्न मुक्तः । दिग्वाचीशब्द—पूर्वो ग्रमात्कूपः । अञ्चूत्तरपद—प्राग्ग्रामात् तडागम् । आच्—दक्षिणाहि ग्रामान्नदी, इत्यादि ।

यहां 'दिक्' शब्द के ग्रहण से अञ्चूत्तरपद के उदाहरण भी सिद्ध हो जाते, फिर 'अञ्चूत्तरपद' ग्रहण इसलिये है कि आगे के सूत्र से षष्टी विभक्ति प्राप्त है, उसको बाध कर पंचमी ही हो जावे ।। ८४ ।।

७१३–षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन ।। ८५ ।। —अ० २ । ३ । ३० ।।

अतसुच्प्रत्ययान्त शब्दों के अर्थों में वर्त्तमान जो अव्यय शब्द है, उस के योग में षष्ठी विभक्ति हो ।

जैसे—दक्षिणतो ग्रामस्य वाटिका । उपरि ग्रामस्य गोशाला, इत्यादि । यहां ग्राम शब्द से षष्ठी विभक्ति हुई है ।। ८५ ।।

७१४–अनपा द्वितीया ।। ८६ ।। —अ० २ । ३ । ३१ ।।

अतसर्थ प्रत्ययों में एनप् प्रत्यय के योग में पूर्व सूत्र से षष्ठी विभक्ति प्राप्त थी, उसका अपवाद यह सूत्र है ।

एनप्प्रत्ययान्त अव्यय के योग में द्वितीया हो ।

जैसे—दक्षिणेन ग्रामं मुंजाः, इत्यादि—ग्राम से दाहिनी ओर मूंज का वन है ।। ८६ ।।

७१५–पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् ।। ८७ ।।
—अ० २ । ३ । ३२ ।।

पृथक्, विना, नाना, इन तीन अव्यय शब्दों के योग में विकल्प करके तृतीया विभक्ति हो, पक्ष में पंचमी ।

जैसे—पृथक् स्थानेन । पृथक् स्थानात् । विना घृतेन । विना घृतात् । नाना पदार्थेन । नाना पदार्थात् ।

यहां जो 'सिद्धान्तकौमुदी' में द्वितीया विभक्ति की अनुवृत्ति करके उदाहरण दिये हैं, वे इसी सूत्र के महाभाष्य से विरुद्ध होने से अशुद्ध हैं ।। ८७ ।।

७१६–करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्ववचनस्य ।।८८।।

—अ० २ । ३ । ३३ ।।

करण कारण में वर्त्तमान जो अद्रव्यवाची स्तोक, अल्प, कृच्छ्र और कतिपय शब्द, उनसे तृतीया और पंचमी विभक्ति हों ।

जैसे—स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्तः । अल्पेनाल्पाद्वा मुक्तः । कृच्छ्रेण कृच्छ्राद्वा मुक्तः । कतिपयेन कतिपयाद्वा मुक्तः, इत्यादि—थोड़े किंचित् कष्ट और कुछ दिनों में छूट गया ।

यहां 'असत्ववचन' का ग्रहण इसलिये है कि—अल्पेन जलेन तृप्तः—थोड़े जल से तृप्त हुआ, इत्यादि में पंचमी विभक्ति न हो । यहां 'करण' ग्रहण इसलिये है कि—अल्पं त्यजति—थोड़े को छोड़ता है, इत्यादि में तृतीया पंचमी विभक्ति न हों ।। ८८ ।।

७१७–दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतस्याम् ।। ८९ ।।

—अ० २ । ३ । ३४ ।।

दूर और समीपवाची और इनके पर्यायवाची शब्दों के योग में विकल्प करके षष्ठी, और पक्ष में पञ्चमी हो ।

जैसे—दूरं विप्रकृष्टं वा ग्रामस्य, दूरं विप्रकृष्टं वा ग्रामाद् वनम् । अन्तिकं समीपं वा ग्रामस्य, ग्रामाद्वाऽऽरामाः, इत्यादि ग्राम के दूर जंगल और समीप बाग हैं ।

यहां 'विकल्प की अनुवृत्ति' इसलिये है कि पक्ष में पंचमी विभक्ति हो जावे ।। ८९ ।।

७१८—दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च ।। ९० ।।

—अ० २ । ३ । ३५ ।।

दूर और समीपवाची तथा इनके पर्याय शब्दों से द्वितीया विभक्ति हो, चकार से विकल्प करके षष्ठी और पक्ष में पंचमी भी हो ।

दूरं दूरस्य दूराद्वा ग्रामस्य । विप्रकृष्टं विप्रकृष्टस्य विप्रकृष्टाद्वा ग्रामस्य पर्वताः । अन्तिकमन्तिकस्यान्तिकाद्वा ग्रामस्य शिरीषाः । समीपं समीपस्य समीपापाद्वा ग्रामस्य वाटिका, इत्यादि ।। ९० ।।

अब अपादान संज्ञा में जो विशेष सूत्र हैं, उन्हें लिखते हैं—

७१९—भीत्रार्थानां भयहेतुः ।। ९१ ।। —अ० १ । ४ । २५ ।।

जो भयार्थ और रक्षार्थ धातुओं के प्रयोग में भय का हेतु कारक है, उसकी अपादान संज्ञा हो ।

जैसे—वृकेभ्यो बिभेति । वृकेभ्य उद्विजते । चोरेभ्यस्त्रायते । चोरेभ्यो रक्षति[1], इत्यादि—भेड़ियों से डरता और चोरों से रक्षा करता है ।

यहां 'भयहेतु' का ग्रहण इसलिये है कि—गृहे बिभेति । गृहे त्रायते, इत्यादि में पंचमी विभक्ति न हो ।। ९१ ।।

७२०—पराजेरसोढः ।। ९२ ।। —अ० १ । ४ । २६ ।।

परापूर्वक जि धातु के प्रयोग में असोढ अर्थात् जिसको न सह सके, वह कारक अपादानसंज्ञक हो ।

जैसे—अध्ययनात् पराजयते । बलवता धर्म्मात्मनो निर्बलोऽधर्मी पराजयते, इत्यादि ।

---

१. यहां वृक और चोर भय के हेतु हैं, इस कारण उनकी अपादान संज्ञा होकर पंचमी विभक्ति होती है ।

यहां 'असोढ' ग्रहण इसलिये है कि—शत्रून् पराजयते, इत्यादि में अपादान संज्ञा होकर पंचमी न हो ॥ ९२ ॥

७२१—वारणार्थानामीप्सितः ॥ ९३ ॥ —अ० १।४।२७॥

'वारण' उसको कहते हैं कि कुछ काम करते हुए को वहां से हटा देना। वारणार्थक धातुओं के प्रयोग में जो अत्यन्त इष्ट कारक है उसकी अपादान संज्ञा हो।

जैसे—सस्येभ्यो गां वारयति निवर्त्तयति निषेधति वा, इत्यादि—धान्य के खेतों से गौओं को हटाता है। इस कारण खेत अत्यन्त इष्ट हुए।

यहां 'ईप्सित' ग्रहण इसलिये है कि—गोष्ठे गां वारयति, में अपादान संज्ञा न हो ॥ ९३ ॥

७२२—अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति ॥ ९४ ॥

—अ० १।४।२८॥

अन्तर्द्धि अर्थात् छिप जाने अर्थ में, जिससे इच्छा करे कि मुझको वह न देखे, वह कारक अपादानसंज्ञक हो।

जैसे—उपाध्यायाद् बालोऽन्तर्द्धत्ते, इत्यादि—पढ़नेहारे से लड़का छिपता है।

यहां 'अच्छति' ग्रहण इसलिये है कि—दुष्टान्न दिदृक्षते, इत्यादि में अपादान संज्ञा न हो। 'इच्छति' ग्रहण इसलिये है कि देखने की इच्छा न हो और सामने से दिखाता हो तो भी अपादान संज्ञा न हो ॥ ९४ ॥

७२३—आख्यातोपयोगे ॥ ९५ ॥ —अ० १।४।२९॥

जो उपयोग अर्थात् नियमपूर्वक पढ़ने में पढ़ानेवाला कारक है, उसकी अपादान संज्ञा हो।

जैसे—उपाध्यायादधीते, इत्यादि—वेतन लेनेवाले से पढ़ता है।

यहां 'उपयोग' ग्रहण इसलिये है कि—नटस्य वचः शृणोति, इत्यादि में नियमपूर्वक विधान के न होने से अपादान कारक संज्ञा न हो॥ ९५॥

७२४–जनिकर्त्तुः प्रकृतिः॥ ९६॥ —अ० १।४।३०॥

जन धातु का जो कर्त्ता उसकी प्रकृति अर्थात् जो कारण है, वह अपादानसंज्ञक हो।

जैसे—अग्नेर्धूमो जायते[1]। अव्यक्तात्कारणाद्व्यक्तं कार्यं जायते—अग्नि से धुआं, और सूक्ष्म अदृश्य नित्यस्वरूप कारण से स्थूल, दृश्य, अनित्य रूप कार्य उत्पन्न होता है।

यहां 'प्रकृति' ग्रहण इसलिये है कि—पुत्रों में गौरो जायेत, इत्यादि में कारण की अपेक्षा न होने से अपादान संज्ञा नहीं होती॥ ९६॥

७२५–भुवः प्रभवः॥ ९७॥ —अ० १।४।३१॥

'प्रभव' उस को कहते हैं कि जहां से कोई पदार्थ उत्पन्न हुआ हो। जो भू धातु के कर्त्ता का प्रभव कारण है, वह अपादानसंज्ञक हो।

---

१. यहां जन धातु का कर्त्ता धूम है, उसकी प्रकृति=कारण अग्नि है, इससे उसकी अपादान संज्ञा होकर पंचमी होती है॥

हिमवतो गङ्गा प्रभवति—हिमवान् पर्वत से गङ्गा उत्पन्न होती है। इसलिये हिमवान् शब्द की अपादान संज्ञा हो के पंचमी विभक्ति हुई है ॥ ९७ ॥

यह अपादानकारक पूरा हुआ ॥

—:**:—

(६) शेषकारक

अब इस के आगे षष्ठी कारक लिखेंगे, इस में संज्ञाप्रकरण नहीं है—

७२६–षष्ठी शेषे ॥ ९८ ॥ —अ० २ । ३ । ५० ॥

भा०—**कर्म्मादीनामविवक्षा शेषः**—जहां कर्म्म आदि कारक संज्ञा की विवक्षा न हो, वह 'शेष' कहलाता है, उसमें षष्ठी विभक्ति हो ।

जैसे—राज्ञः पुरुषः । वृक्षस्य शाखाः । मृत्तिकाया घटः, इत्यादि ॥ ९८ ॥

७२७–ज्ञोऽविदर्थस्य करणे ॥ ९९ ॥ —अ० २ । ३ । ५१ ॥

जो अविदर्थ अर्थात् अज्ञानार्थ ज्ञा धातु, उसके करण कारक में षष्ठी विभक्ति होवे ।

जैसे—अग्निः सर्पिषो जानीते, मधुनो जानीते[1]—अग्नि घी और शहद से प्रज्वलित होता है !

---

१. यहां सर्पिः=घी और मधु=शहद ज्ञा धातु के प्रयोग में साधकतम होने से करण हैं, वहां तृतीया विभक्ति प्राप्त थी, उसका अपवाद यह षष्ठी का विधान किया है। परन्तु अर्थ तृतीया का ही बना रहता है। जैसे—घी और मधु से अग्नि बढ़ता है ॥

यहां 'अविदर्थ' ग्रहण इसलिये है कि—गौः स्वरेण वत्सं जानाति, इत्यादि में षष्ठी न हो ।। ९९ ।।

७२८–अधीगर्थदयेशां कर्मणि ।। १०० ।।

—अ० २ । ३ । ५२ ।।

जो अधिपूर्वक स्मरण अर्थवाला इक, इस के अर्थ के अन्य धातु, दय और ईश हैं, इनके अनभिहित कर्म में षष्ठी विभक्ति हो ।

जैसे—अधीगर्थ—मातुरध्येति बालः । पितुः स्मरति बालः । दय—दुःखितस्य दयते । ईश—गामस्येष्टे । यहां सर्वत्र द्वितीया प्राप्त थी, उसकी बाधक षष्ठी है ।

और 'कर्म' ग्रहण इसलिये है कि—मातृगुणैः स्मरति बालः, यहां करणवाची गुण शब्द के होने से षष्ठी विभक्ति नहीं हुई ।। १०० ।।

७२९–कृञः प्रतियत्ने ।। १०१ ।। —अ० २ । ३ । ५३ ।।

जो प्रतियत्न अर्थ में वर्तमान कृञ् धातु हो, तो उसके शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो ।

जैसे—एधोदकस्योपस्कुरुते[1]—पाककर्ता इन्धन जल तथा अन्य सब भोजन की सामग्री समीप धर के पाक बनावे ।। १०१ ।।

७३०–रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः ।। १०२ ।।

—अ० २ । ३ । ५४ ।।

यहां भाववचन शब्द से कर्तृस्थभावक रुजार्थ धातु समझे जाते हैं ।

---

१. यहां प्रतियत्न अर्थ में ही कृञ् धातु को सुट् का आगम कहा है । एधोदक शब्द कृञ् धातु का कर्म है, उसमें द्वितीया प्राप्त है, सो न हो ।।

जिन धातुओं के कर्त्ता में धातु का अर्थ रहता है, ऐसे रुजार्थक धातुओं में से ज्वर धातु को छोड़ के उनके शेष कर्म्म[1] में षष्ठी हो ।

जैसे—चोरस्य रुजति । चोरस्यामयति, इत्यादि ।

यहां 'रुजार्थ' ग्रहण इसलिये है कि—ग्रामं गच्छति, इत्यादि में षष्ठी न हो । और 'भाववचन' ग्रहण इसलिये है कि—नदी कूलानि रुजति, यहां कर्मस्थभावक रुज धातु के कर्म्म में षष्ठी न हो । और 'ज्वर धातु का निषेध' इसलिये है कि—बालं ज्वरयति ज्वरः यहां कर्म में षष्ठी न हो ।। १०२ ।।

७३१–वा०–अज्वरिसंताप्योरिति वक्तव्यम् ।। १०३ ।।

—अ० २ । ३ । ५४ ।।

जहां ज्वर धातु के कर्म्म में षष्ठी का निषेध किया है, वहां संपूर्वक तापि धातु का भी समझना चाहिये ।

जैसे—चोरं सन्तापयति दुष्कर्म, यहां इस वार्त्तिक से षष्ठी का निषेध होके द्वितीया हुई ।। १०३ ।।

७३२–आशिषि नाथः ।। १०४ ।। —अ० २ । ३ । ५५ ।।

जो आशीर्वचन अर्थ में वर्त्तमान नाथ धातु हो, तो उसके शेष कर्म कारक में षष्ठी विभक्ति होवे ।

जैसे—सर्प्पिषो नाथते । मधुनो नाथते[2] । यहां आशिष् शब्द से इच्छा ली जाती है । इसलिये कर्मवाची सर्पिः शब्द में षष्ठी विभक्ति हुई ।

---

१. शेष कर्म के कहने से प्रयोजन यह है कि जिस कर्म में द्वितीया की विवक्षा न हो ।।

२. घी चाहता है । मीठा चाहता है । यहां घी और मीठा नाथ धातु के कर्म हैं, यहां भी षष्ठी द्वितीया की बाधक है ।।

'आशिषि' ग्रहण इसलिये है कि—अन्नं नाथते, यहां षष्ठी न हो ॥ १०४ ॥

७३३—जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम् ॥ १०५ ॥

—अ० २ । ३ । ५६ ॥

जासि धातु चुरादि गण का, नि और प्र ये उपसर्ग साथ वा पृथक् पृथक् पूर्व हों ऐसा हन, नाट, क्राथ और पिष इन हिंसार्थक धातुओं के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति होवे।

जैसे—चोरस्योज्जसयति, यहां जासि धातु के चोर कर्म में षष्ठी। निप्रहण—चोरस्य निप्रहन्ति। चोरस्य निहन्ति। चोरस्य प्रहन्ति। नाट—असुरस्योन्नाटयति। क्राथ—दुष्टस्य क्राथयति। पिष—दस्योः पिनष्टि, इत्यादि।

यहां 'जासि' आदि धातुओं का परिगणन इसलिये है कि—दुष्टं हिनस्ति, इत्यादि में षष्ठी न हो। और 'हिंसा' ग्रहण इसलिये है कि—औषधं पिनष्टि, यहां हिंसा के न होने से षष्ठी न हुई ॥१०५॥

७३४—व्यवहृपणोः समर्थयोः ॥ १०६ ॥

—अ० २ । ३ । ५७ ॥

समानार्थक जो वि अव पूर्वक हृ और पण धातु, इन के शेष कर्म्म में षष्ठी विभक्ति हो।

जैसे—शतस्य व्यवहरति। शतस्य पणायति, इत्यादि।

यहां 'समर्थ' ग्रहण इसलिये है कि—विद्वांसम्पणायति, यहां पण धातु स्तुति अर्थ में है, इस कारण से इसके कर्म में षष्ठी नहीं होती ॥ १०६ ॥

७३५—दिवस्तदर्थस्य ॥ १०७ ॥ —अ० २ । ३ । ५८ ॥

व्यवहारार्थक दिवु धातु के शेष कर्म्म में षष्ठी विभक्ति हो।

जैसे—शतस्य दीव्यति, इत्यादि—सौ रुपये का व्यवहार करता है ।। १०७ ।।

७३६–विभाषोपसर्गे ।। १०८ ।। —अ० २ । ३ । ५९ ।।

उपसर्गपूर्वक व्यवहारार्थक द्विवु धातु के शेष कर्म्म में विकल्प करके षष्ठी विभक्ति हो ।

जैसे—शतस्य प्रदीव्यति । शतं प्रदीव्यति । यहां षष्ठी के विकल्प से पक्ष में द्वितीया विभक्ति भी होती है ।। १०८ ।।

७३७–द्वितीया ब्राह्मणे ।। १०९ ।। —अ० २ । ३ । ६० ।।

ब्राह्मण ग्रन्थों में व्यवहारार्थ दिवु धातु के कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति हो ।

जैसे—गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः । यहां गौ शब्द कर्म्मवाची है, उसमें द्वितीय होती है ।

अनुपसर्ग दिवु धातु के कर्म्म कारक में नित्य षष्ठी विभक्ति प्राप्त है, सो द्वितीया ही हो, इसलिये यह सूत्र है ।। १०९ ।।

७३८–प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासंप्रदाने ।। ११० ।।

—अ० २ । ३ । ६१ ।।

जो वह हविष् कर्म देवता अर्थात् दिव्यगुण होने के लिये दिया जाता हो, तो प्रपूर्वक दिवादिगणवाला इस धातु और ब्रू धातु इनके हविष् कर्म्म में ब्राह्मणग्रन्थ विषय में षष्ठी विभक्ति हो ।

जैसे—इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य । इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि[1] । यहां हविष्

---

१. अजा के अर्थ खाने पीने की वस्तु के योग से बिजुली और अग्नि को उपयुक्त कर और सुनकर उपदेश भी कर ।।

कर्म है, अन्य षष्ठ्यन्त पद उस के विशेषण हैं। यहां—छागं हविर्वपां मेदः प्रेष्य, ऐसा प्राप्त है। सो इस सूत्र से षष्ठी विभक्ति हो गई।

यहां 'प्र पूर्वक इष और ब्रू धातु' का ग्रहण इसलिये है कि—अग्नये छागहविर्वपां मेदो जुहुधि इत्यादि के कर्म में षष्ठी न हो। 'हविष्' ग्रहण इसलिये है कि—अग्नये समिधः प्रेष्य, यहां समिध् कर्म में षष्ठी न हो। और देवतासंप्रदान' ग्रहण इसलिये है कि—बालाय पुरोडाश प्रेष्य, यहां देवता के न होने से षष्ठी न हुई॥ ११०॥

७३९–वा०–हविषोऽप्रस्थितस्येति वक्तव्यम्॥ १११॥

—अ० २। ३। ६१॥

सूत्र से जो हविष् कर्म में षष्ठी कही है, सो प्रस्थित विशेषण हो तो न हो, किन्तु द्वितीया ही हो।

जैसे—इन्द्राऽग्निभ्यां छागं हविर्वपां मेदः प्रस्थितं प्रेष्य। यहां प्रस्थित विशेषण के होने से षष्ठी न हुई॥ १११॥

७४०–चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि॥ ११२॥

—अ० २। ३। ६२॥

पूर्वसूत्रों में ब्राह्मण शब्द से ऐतरेय आदि वेद व्याख्यानों का ग्रहण होता है, और यहां छन्दः शब्द से वेदों का ग्रहण होता है, इसलिये इस सूत्र में छन्द ग्रहण किया है।

वेद विषय में चतुर्थी के अर्थ षष्ठी विभक्ति बहुल करके हो।

जैसे—दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्। यहां—वनस्पतिभ्यः, ऐसा प्राप्त था॥ ११२॥

७४१–वा०–षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या॥ ११३॥

—अ० २। ३। ६२॥

षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति कहना चाहिये ।

जैसे—या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते । तस्याः खर्वो जायत इति प्राप्ते, इत्यादि । यहां 'तस्यै' शब्द में षष्ठी के स्थान में चतुर्थी हुई है ॥ ११३ ॥

७४२–यजेश्च करणे ॥ ११४ ॥ —अ० २ । ३ । ६३ ॥

वेदविषयक यज धातु के करण कारक में बहुल करके षष्ठी विभक्ति हो ।

जैसे—घृतस्य घृतेन वा यजते । यहां करण कारक में तृतीया विभक्ति प्राप्त थी, सो उसका अपवाद होने से घृत शब्द में तृतीया और षष्ठी दोनों होती हैं ॥ ११४ ॥

७४३–कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे ॥ ११५ ॥

—अ० २ । ३ । ६४ ॥

कृत्वसुच् और इसके समानार्थ प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों के प्रयोग में जो कालवाची अधिकरणवाचक शब्द हो, तो उससे अधिकरण कारक में षष्ठी विभक्ति हो ।

यहां सप्तमी विभक्ति प्राप्त है, उसका अपवाद यह सूत्र है । जैसे—दिवसस्य पंचकृत्वो भुङ्क्ते बालः—एक दिन में यह बालक पांच वार खाता है । दिवसस्य द्विरधीते, इत्यादि—एक दिन भर में दो वार पढ़ता है ।

यहां 'कृत्वोऽर्थप्रयोग' ग्रहण इसलिये है कि—दिनमधीते । अयसः पात्रे भुङ्क्ते, इत्यादि में षष्ठी न हो । 'काल अधिकरण' ग्रहण इसलिये है कि—काष्ठं द्विःकरोति, इत्यादि में षष्ठी न हो ॥ ११५ ॥

७४४–कर्तृकर्मणोः कृति ॥ ११६ ॥ —अ० २ । ३ । ६५ ॥

कृदन्तसंबन्धी कर्त्ता और कर्म कारक में षष्ठी विभक्ति हो।

जैसे—देवदत्तस्य प्रज्ञा। देवदत्तस्येज्या। पुरां भेत्ता। कूपस्य खनिता।

'कर्तृकर्म' ग्रहण इसलिये है कि—दात्रेण छेत्ता, इत्यादि में षष्ठी विभक्ति न हो। और 'कृत' ग्रहण इसलिये है कि—कृतपूर्वी कटम्, इत्यादि तद्धित के प्रयोग में षष्ठी न हो॥ ११६॥

७४५—उभयप्राप्तौ कर्म्मणि॥ ११७॥

—अ० २। ३। ६६॥

पूर्वसूत्र से कृत्युक्त कर्त्ता तथा कर्म में सर्वत्र षष्ठी प्राप्त है, उसका नियम करने के लिये यह सूत्र है।

जिस कृदन्त के योग में कर्त्ता और कर्म दोनों में एक साथ षष्ठी प्राप्त हो, वहां कर्म में षष्ठी और कर्त्ता में तृतीया हो।

जैसे—ओदनस्य पाको देवदत्तेन। यहां ओदन कर्म में षष्ठी और अनभिहित के होने से देवदत्त कर्त्ता में तृतीया हो गई॥ ११७॥

७४६—वा०—अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे प्रतिषेधो न[1]॥ ११८॥

—अ० २। ३। ६६॥

जो ण्वुल, और अ ये स्त्रीप्रत्यय जिन के अन्त में हों, उन शब्दों के प्रयोग में कर्त्ता में भी षष्ठी विभक्ति अर्थात् दोनों में एक साथ हो जावे।

जैसे—भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम्। चिकीर्षा विष्णुमित्रस्य कटस्य॥ ११८॥

---

१. यह वार्त्तिक (उभयप्राप्तौ०) इसी सूत्र का अपवाद है, क्योंकि कृद्योग में सामान्य कर के जो षष्ठी का विधान है, उसको नियत विषय में दृढ़ करता है॥

७४७–वा०– शेष विभाषा[1] ॥ ११९ ॥

—अ० २ । ३ । ६६ ॥

शेष कृदन्त स्त्रीप्रत्यय के योग में कर्त्ता में विकल्प करके षष्ठी विभक्ति हो।

और कर्म में तो सूत्र ही से नित्य विधान है। जैसे—शोभना खशु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः। शोभना खलु पाणिनिना सूत्रस्य कृतिः, इत्यादि ॥ ११९ ॥

७४८–क्तस्य च वर्तमाने[2] ॥ १२० ॥ —अ० २ । ३ । ६७ ॥

जो वर्त्तमान काल में क्त.प्रत्ययान्त शब्द है, उसके सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति हो।

जैसे—राज्ञां मतः। राज्ञां बुद्धः। राज्ञां पूजितः—यह विद्वान् राजाओं का मान्य, जाना और सत्कृत है।

यहां 'क्त' ग्रहण इसलिये है कि—गुरुं भजमानः, यहां कर्म में षष्ठी न हो। और 'वर्त्तमान' ग्रहण इसलिये है कि—ग्रामं गतः, यहां भूतकाल के होने से षष्ठी न हो ॥ १२० ॥

---

१. यह 'अप्राप्त विभाषा' यों समझनी चाहिये कि शेष स्त्रीप्रत्यय के योग में कर्तृवाची शब्द से किसी सूत्र करके षष्ठी प्राप्त नहीं, (उभयप्राप्तौ०) इससे कर्म का नियम होने से कर्त्ता का निषेध तो है ॥

२. क्त प्रत्यय की निष्ठा संज्ञा होने से आगे (न लोका० ॥ अ० २ । ३ । ६९ ॥) इस (१२३) सूत्र करके षष्ठी का निषेध प्राप्त है, इसलिये यह सूत्र उसका पुरस्तात् अपवाद है ॥

७४९–वा०–क्तस्य च वर्त्तमाने नपुंसके भाव उपसङ्ख्यानम्[1] ॥ १२१ ॥ —अ० २ । ३ । ६७ ॥

जो नपुंसक भाव में क्तप्रत्ययान्त है, उसके कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति हो।

जैसे—छात्रस्य हसितम्। नटस्य भुक्तम्। मयूरस्य नृत्तम्, इत्यादि—विद्यार्थी का हंसना। नट का भोजन। मोर का नाचना देखो ॥ १२१ ॥

७५०–अधिकरणवाचिनश्च ॥ १२२ ॥

—अ० । २ । ३ । ६८ ॥

अधिकरणवाची क्तप्रत्ययान्त के योग में कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति हो।

जैसे—इदमेषामासितम्! इदमेषां यातम्[2] ॥ १२२ ॥

७५१–न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्[3] ॥ १२३ ॥

—अ० २ । ३ । ६९ ॥

---

१. पूर्वसूत्र में वर्तमान के कहने से नपुंसक में बाभ प्राप्ति नहीं, इसलिये यह भी वार्तिक (न लोका० ॥ अ० २ । ३ । ६९) इसी वक्ष्यमाण (१२३) सूत्र का अपवाद समझना ठीक है ॥

२. आसितम्=बैठने का स्थान, और यातम्=चलने का मार्ग है। 'एषां' यह कर्त्ता में षष्ठी है। और सूत्र भी (न लोका० ॥ अ० २ । ३ । ६९) इसी अगले (१२६) सूत्र का अपवाद है ॥

३. ये दोनों वार्तिक इसी सूत्र के विषय में निषेध का निषेध करके षष्ठी के विधायक हैं। इसलिये (न लोका० ॥ अ० २ । ३ । ६९) इसके अपवाद हैं ॥

जो कृदन्त के योग में कर्म में षष्ठी प्राप्त है, उसी विषय का यह सूत्र निषेध करता है। इसलिये उसी का **अपवाद** है।

ल, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ और तृन्, इन कृत्प्रत्ययान्त शब्दों के योग में कर्म षष्ठी विभक्ति न हो।

ल, अर्थात् जो लकार के स्थान के तिङ्, शतृ, शानच्, कानच्, क्वसु, कि, किन् आदि आदेश होते हैं। जैसे—तिङ्—देवदत्त ओदनं पचति। देवदत्तेनौदनःपच्यते। ग्रामं गच्छति। ग्रामो गम्यते, इत्यादि। शतृ—ओदनं पचन्। शानच्—ओदनं पचमानः। कानच्—सूर्य्यमुभयतोददृशानः। क्वसु—सोमं पपिवान्। कि; किन्—ददिर्गाः इत्यादि।

उ—कटं चिकीर्षुः। ग्रामं जिगमिषुः। विद्यां पिपठिषुः, इत्यादि। उकञ्—सत्यं प्रतिपादुकः। अव्यय—ग्रामं गत्वा। ओदनं भुक्त् वा। निष्ठा—क्त और क्तवतु प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी न हो। देवदत्तेन कृतं पयः। कटं कृतवान्। खलर्थ—ईषद्भोज ओदनो भवता। ईषत्पानं पयो भवता।

तृन् प्रत्याहार से शानन्, चानश, शतृ, तृन् इन चार प्रत्ययान्तों का ग्रहण होता है। शानन्—सोमं पवमानः। चानश्—पतङ्गा-न्निघ्नानः। शतृ—विद्यां धारयन्। लविता यवान् पठिता वेदान्, इत्यादि॥ १२३॥

७५२—वा०—उकप्रतिषेधे कमेर्भाषायामप्रतिषेधः॥ १२४॥

—अ० २। ३। ६९॥

वेद से अन्य आर्ष वेदानुकूल ग्रन्थों को 'भाषा' कहते हैं। जो उकप्रत्ययान्त के योग में षष्ठी का निषेध किया है, वहां उकप्रत्ययान्त भाषाविषयक कम धातु के प्रयोग में निषेध न हो, किन्तु षष्ठी विभक्ति हो जावे।

जैसे—दास्याः कामुकः। वृषल्याः कामुकः—दासी और वृषली वेश्या से भोग की इच्छावाला, इत्यादि ॥ १२४ ॥

७५३—वा०—अव्ययप्रतिषेधे तोसुन्कसुनोरप्रतिषेधः ॥१२५॥

—अ० २ । ३ । ६९ ॥

जो अव्यय के योग के षष्ठी का निषेध किया है, वहां तोसुन् और कसुन् प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी का निषेध न हो।

जैसे—तोसुन्—पुरा सूर्य्यस्योदेतोराधेयः। कसुन्—पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्, इत्यादि ॥ १२५ ॥

७५४—वा०—द्विषः शतुर्वावचनम्[1] ॥ १२६ ॥

—अ० २ । ३ । ६९ ॥

द्विष् धातु से शतृप्रत्यायन्त के योग में षष्ठी विभक्ति विकल्प करके हो।

जैसे—चोरस्य द्विषन्; चोरं द्विषन्। तृन् प्रत्याहार में शतृ प्रत्यय के होने से निषेध प्राप्त था, उसका विकल्प करने के लिये यह तीसरा वार्त्तिक है ॥ १२६ ॥

७५५—अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः ॥ १२७ ॥

—अ० २ । ३ । ७० ॥

अक और इन्प्रत्ययान्त के कर्म में षष्ठी विभक्ति हो।

७५६—वा०—अकस्य भविष्यतीनि आधमर्ण्ये च ॥ १२८ ॥

—अ० २ । ३ । ७० ॥

---

१. इस वार्तिक में अप्राप्तविभाषा इसलिये है कि (न लोका० ॥ अ० २ । ३ । ६९) इससे सर्वथा षष्ठी का निषेध हो चुका है, उसको यह विकल्प से विधान किया है ॥

अकन्त के योग में भविष्यत् काल और इनके योग में आधमर्ण्य तथा भविष्यत् काल अर्थ लगाते हैं।

जैसे—यवान् लावको व्रजति, यहां अक के योग में केवल भविष्यत् ही है, और—ग्रामं गमी, यहां इन्नन्त के योग में भविष्यत्काल में, और—शतं दायी; सहस्रं दायी, यहां आधमर्ण्य है, इत्यादि।

यहां 'भविष्यत् और आधमर्ण्य में निषेध' इसलिये है कि—यवानां लावकः, यहां षष्ठी का निषेध न हो, किन्तु षष्ठी हो जावे ॥ १२७—१२८ ॥

७५७–कृत्यानां कर्त्तरि वा[1] ॥ १२९ ॥ —अ० २ । ३ । ७१॥

कृत्यप्रत्ययान्त के कर्त्ता में विकल्प करके षष्ठी और पक्ष में तृतीया होवे।

जैसे—ब्राह्मणेन ब्राह्मणस्य वा पठितव्यम्। देवदत्तेन देवदत्तस्य वा आसितव्यम्, इत्यादि।

यहां 'कर्त्तरि' ग्रहण इसलिये है कि—वक्तव्यः श्लोकः, यहां कर्म में षष्ठी न हो।

इस सूत्र में महाभाष्यकार ने योग विभाग करके दो अर्थ किये हैं। एक—उभयप्राप्त कृत्यप्रत्ययान्त के योग में षष्ठी न हो। जैसे—ग्राममाक्रष्टव्या शाखा देवदत्तेन, इत्यादि। दूसरा—कृत्य प्रत्यय के योग में कर्त्ता में षष्ठी विकल्प करके हो। इसके उदाहरण सूत्र की व्याख्या में लिख चुके हैं ॥ १२९ ॥

७५८–तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् ॥ १३० ॥
—अ० २ । ३ । ७२ ॥

---

१. यह भी वार्तिक (कर्तृकर्म० ॥ अ० २ । ३ । ६५) इसी (११६) का अपवाद है। क्योंकि कर्म में षष्ठी इसी से प्राप्त है ॥

पूर्वसूत्र में विकल्प ग्रहण था, फिर दूसरी वार करने का प्रयोजन यह है कि यहां कर्त्ता की अनुवृति न आवे ।

तुल्य और इसके पर्य्यायवाची शब्दों के योग में कर्म में विकल्प करके तृतीया, और पक्ष में षष्ठी विभक्ति हो, तुला और उपमा शब्द को छोड़ के ।

कैसे—तुल्यः सदृशो वा देवदत्तेन देवदत्तस्य वा विष्णुमित्रः, इत्यादि ।

यहां 'तुला और उपमा शब्द का निषेध' इसलिये है कि—तुलोपमा वा परमात्मनो नास्ति, यहां परमात्मा शब्द से तृतीया न हुई, शेष के होने से षष्ठी हो गई ।। १३० ।।

७५६-चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः ।।१३१।।

—अ० २ । ३ । ७३ ।।

जो आशीर्वचन अर्थ में वर्त्तमान आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ और हित हैं। इन शब्दों के योग में विकल्प करके चतुर्थी और पक्ष में षष्ठी विभक्ति होवे ।

जैसे—आयुष्य—आयुष्यं शिष्याय शिष्यस्य वा । मद्र—मद्रं बालाय बालस्य वा । भद्र—भद्रं पुत्राय पुत्रस्य वा । कुशल—कुशलं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । सुख—सुखं पण्डिताय पण्डितस्य वा । अर्थ—अर्थो देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । हित—हितं माणवकाय माणवकस्य वा, इत्यादि ।

यहां 'आशीर्वचन' ग्रहण इसलिये है कि—आयुष्यमस्य ब्रह्मचर्य्यम्, इत्यादि में चतुर्थी विभक्ति न हो ।। १३१ ।।

यह शेषकारक पूरा हुआ ।।

—:**:—

(७) अधिकरणकारक

७६०—आधारोऽधिकरणम् ।। १३२ ।। —अ० १ । ४ । ४५ ।।

जिसमें पदार्थ धरे जाते हैं वह 'आधार' कहाता है। सो एक की अपेक्षा में दूसरा आधार बनता जाता है। परिपूर्ण परमेश्वर में पहुँच के समाप्ति हो जाती है।

जो आधार कारक है, वह अधिकरणसंज्ञक हो ।। १३२ ।।

इसका फल—

७६१—सप्तम्यधिकरणे च ।।१३३।। —अ० २ । ३ । ३६ ।।

अधिकरण तीन प्रकार का होता है, इसको प्रमाणसहित पूर्व लिख चुके हैं। अधिकरण में और चकार से दूरवाची तथा समीपवाची शब्दों से भी सप्तमी विभक्ति होवे।

जैसे—व्यापक—दध्नि घृतम्। तिलेषु तैलम्[1] इत्यादि। औपश्लेषिक—कटे शेते। खट्वायां शेते। पीठ आस्ते[2], इत्यादि। वैषयिक—खे शकुनयः। श्रोत्रे शब्दो विबुध्यते[3], इत्यादि। आकाश के विषय यहां ख शब्द में सप्तमी विभक्ति हुई है ।। १३३ ।।

---

१. दही और तिलों के सब अवयवों में घी और तेल व्याप्त रहता है, इस कारण इस को 'व्यापक' कहते हैं ।।

२. चटाई, खटिया और आसन पर बैठने वाले का उससे अति निकट सम्बन्ध होता है, इसलिये इस अधिकरण को 'औपश्लेषिक' कहते हैं ।।

३. पक्षियों के उड़ने का विषय आकाश और कान का विषय शब्द है, इस कारण यह 'वैषयिक' अधिकरण कहाता है ।।

अब आगे वार्त्तिक लिखेंगे—

७६२—वा०—सप्तमीविधाने क्तस्येन्विषयस्य कर्म्मण्युपसंख्यानम् ॥ १३४ ॥ —अ० २ । ३ । ३६ ॥

क्तप्रत्ययान्त शब्द से जहां इन् प्रत्यय होता है, वहां कर्म कारक में सप्तमी विभक्ति हो ।

जैसे—असावधीती व्याकरणे[1] । परिगणिती याज्ञिके, इत्यादि ॥ १३४ ॥

७६३—वा०—साध्वसाधुप्रयोगे च[2] ॥ १३५ ॥

—अ० २ । ३ । ३६ ॥

साधु और असाधु शब्द के प्रयोग में भी सप्तमी विभक्ति हो ।

जैसे—साधुर्देवदत्तो मातरि । असाधव आर्येषु दस्यवः, इत्यादि ॥ १३५ ॥

७६४—वा०—कारकार्हाणां च कारकत्वे ॥ १३६ ॥

—अ० २ । ३ । ३६ ॥

जहां कारक अपने कृत्य को ठीक ठीक प्राप्त हों, वहां उनसे सप्तमी विभक्ति हो ।

जैसे—ऋद्धेषु भुञ्जानेषु दरिद्रा आसते, इत्यादि—सम्पन्न पुरुष अच्छे अच्छे पदार्थ भोगते और दरिद्र बैठे देखते हैं ॥ १३६ ॥

---

१. यहां अधीत शब्द क्तप्रत्ययान्त इन्विषयक है, उसके कर्म व्याकरण शब्द में सप्तमी होती है ॥

२. यहां से जो वार्त्तिक हैं वे किसी के अपवाद नहीं, किन्तु अपूर्वविधायक हैं । क्योंकि वहां किसी सूत्र वा वार्त्तिक से सप्तमी प्राप्त नहीं है ॥

७६५–वा०–अकारकार्हाणां चाकारकत्वे ।। १३७ ।।

—अ० २ । ३ । ३६ ।।

जहां अयोग्य कारक अपनी अयोग्यता को ठीक ठीक प्राप्त हों, वहां सप्तमी विभक्ति हो ।

जैसे—मूर्खेष्वासीनेषु ऋद्धा भुञ्जते । वृषलेष्वासीनेषु ब्राह्मणास्तरन्ति, इत्यादि । यहां मूर्ख और वृषल अपनी अयोग्यता को प्राप्त होते हैं, उन्हीं में सप्तमी हुई ।। १३७ ।।

७६६–वा०–तद्विपर्य्यासे च ।। १३८ ।।

—अ० २ । ३ । ३६ ।।

और जहां इन कर्मों के बदलने में अर्थात् अच्छों की बुरों की योग्यता और बुरों को अच्छों की योग्यता हो, वहां पूर्व प्रयुक्त शब्दों में सप्तमी हो ।

जैसे—ऋद्धेष्वासीनेषु मूर्खा भुञ्जते । ब्राह्मणेष्वासीनेषु वृषलास्तरन्ति, इत्यादि ।। १३८ ।।

७६७–वा०–निमित्तात्कर्मसंयोगे ।। १३९ ।।

—अ० २ । ३ । ३६ ।।

कर्मसंयोग में जिस निमित्त के लिये वह कर्म किया जाता है, उन निमित्तवाची शब्दों से सप्तमी विभक्ति हो ।

जैसे—चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः ।।

चर्मणि०—चर्म के लिये गैंडे को मारता है । दन्त०—दांतों के लिये हाथी को मारता है । केशेषु०—केशों के लिये चमरी अर्थात् जङ्गली सुरा गौ को मारता है । और—सीम्नि पुष्कलको०—कस्तूरी

की चाहना करके कस्तूरिया मृग को मारता है। इस कारण चर्म आदि शब्दों से सप्तमी विभक्ति हो जाती है[1] ।। १३९ ।।

७६८–यस्य च भावेन भावलक्षणम् ।। १४० ।।
—अ० २ । ३ । ३७ ।।

जिस क्रिया से क्रिया का लक्षण किया जाय, उस में सप्तमी विभक्ति हो ।

जैसे—गोषु दुह्यमानासु गतो दुग्धास्वागतः[2] ।

यहां 'भावेन' ग्रहण इसलिये है कि—यो जटिलः स भुङ्क्ते, इत्यादि में सप्तमी न हो ।। १४० ।।

७६९–षष्ठी चानादरे ।। १४१ ।। —अ० २ । ३ । ३८ ।।

अनादर अर्थ में जिस क्रिया से क्रिया का लक्षण किया जाय, वहां षष्ठी विभक्ति और चकार से सप्तमी भी हो ।

जैसे—आहूयमानस्याहूयमाने वा गतः । आहूयमान अर्थात् बुलाते हुए का तिरस्कार करके चला गया । यहां आहूयमान शब्द में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हुई हैं ।। १४१ ।।

७७०–स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च[3] ।१४२।
—अ० २ । ३ । ३९ ।।

---

१. गैंडे आदि को मारे विना चाम आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर ढाल आदि वस्तु कैसे बनें, इस कारण चाम आदि उनके मारने के निमित्त हैं ।।

२. यहां दोहनरूप क्रिया से गमन क्रिया का लक्षण किया जाता है, इस से दोहन क्रिया में सप्तमी हुई ।।

३. यह चकार षष्ठी और सप्तमी दोनों विभक्तियों का आकर्षण होने के लिये है ।।

स्वामिन्, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन् प्रतिभू और प्रसूत इन शब्दों के योग में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हों।

जैसे—स्वामिन्—गवां स्वामी; गोषु स्वामी। ईश्वर—पृथिव्या ईश्वरः; पृथिव्यामीश्वरः। अधिपति—ग्रामस्याधिपतिः; ग्रामेऽधिपतिः। दायाद—क्षेत्रस्य क्षेत्रे वा दायादः। साक्षिन्—देवदत्तस्य देवदत्ते वा साक्षी। प्रतिभूः—धनस्य धने वा प्रतिभूः। प्रसूत—गवां प्रसूतः; गोषु प्रसूतः।

इस सूत्र में स्वामिन् आदि शब्दों के योग में शेष कारक के होने से सर्वत्र षष्ठी प्राप्त थी, सो सप्तमी भी हो जावे, इसलिये यह सूत्र है॥ १४२ ॥

७७१–आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् ॥ १४३ ॥

—अ० २। ३। ४०॥

जो आसेवा अर्थ में वर्त्तमान आयुक्त और कुशल शब्द हैं, उनके योग में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हों।

जैसे—आयुक्तः पठनस्य पठने वा। कुशलो लेखनस्य लेखने वा। यहां 'आसेवा' ग्रहण इसलिये है कि—आयुक्तो वृषभः शकटे, इत्यादि में षष्ठी न हो। अधिकरण में सप्तमी तो प्राप्त ही थी, षष्ठी होने के लिये यह सूत्र है॥ १४३ ॥

७७२–यतश्च निर्द्धारणम् ॥ १४४ ॥ —अ० २। ३। ४१॥

जो समुदायवाची जाति आदि शब्दों से एक का पृथक् करना है, उसको 'निर्द्धारण' कहते हैं। जिससे निर्द्धारण अर्थात् किसी को पृथक् किया जावे, उस से षष्ठी सप्तमी विभक्ति हों।

जैसे—ब्राह्मणानां ब्राह्मणेषु वा देवदत्तः श्रेष्ठतमः। इससे यहां ब्राह्मण शब्द में षष्ठी सप्तमी विभक्ति हो गई॥ १४४ ॥

७७३–पंचमी विभक्ते ॥ १४५ ॥　—अ० २ । ३ । ४२ ॥

पूर्व से निर्द्धारण अर्थ में षष्ठी सप्तमी विभक्ति प्राप्त है, उसका अपवाद यह सूत्र है ।

निर्द्धारण में जिसका विभाग किया जाय, उसमें पंचमी विभक्ति हो ।

जैसे--पाटलिपुत्रेभ्यः सांकाश्य आढ्यतराः, इत्यादि । जो पूर्वसूत्र से निर्द्धारण होता है वह समुदाय से एक ही का पृथक् भाव समझना । और इस सूत्र से एक ही से दूसरे का विभाग होता है ॥ १४५ ॥

७७४–साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः ॥ १४६ ॥

—अ० २ । ३ । ४३ ॥

जो पूजा अर्थात् सत्कारपूर्वक सेवा करने अर्थ में वर्त्तमान साधु और निपुण हों, तो इन के प्रयोग में सप्तमी विभक्ति होवे, परन्तु प्रति के योग में इस अर्थ में भी न हो ।

जैसे—मातरि साधुः । पितरि साधुः । मातरि निपुणः । पितरि निपुणः, इत्यादि ।

यहां 'अर्चा' ग्रहण इसलिये है कि—साधुर्देवदत्तस्य पुत्रः, इत्यादि में न हो जाय । 'प्रति का निषेध' इसलिये है कि—साधुर्देवदत्तो मातर प्रति, यहां प्रति के योग में सप्तमी न हो ॥ १४६ ॥

७७५–वा०–अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम् ॥ १४७ ॥

—अ० २ । ३ । ४३ ॥

जो प्रति के योग में सप्तमी का निषेध किया है, सो प्रति आदि अन्य शब्दों के योग में भी समझा जावे ।

जैसे—साधुर्देवदत्तो मातरं परि। मातरमनु, इत्यादि के योग में भी सप्तमी विभक्ति न हो ॥ १४७ ॥

७७६–प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च ॥ १४८ ॥

—अ० २।३।४४॥

जो अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति प्राप्त है, उसका अपवाद यह सूत्र है।

प्रसित और उत्सुक शब्दों के योग में तृतीया और सप्तमी विभक्ति हों।

जैसे—केशैः केशेषु वा प्रसितः। मात्रा मातरि वा प्रसितः। सत्येन सत्ये वा प्रसितः। 'प्रसित' कहते हैं जो उसमें अतिप्रसक्त हो। गानेन गाने वोत्सुकः। 'उत्सुक' कहते हैं जो किसी से मिलने की इच्छा कर रहा हो ॥ १४८ ॥

७७७–नक्षत्रे च लुपि ॥ १४९ ॥ —अ० २।३।४५॥

यहां उस नक्षत्रवाची शब्द का ग्रहण है कि जहां काल अर्थ में प्रत्यय का लुप् हो जाता है।

लुबन्त नक्षत्र से तृतीया और सप्तमी विभक्ति हों।

जैसे—पुष्येण पुष्ये वा कार्यमारभेत, इत्यादि—पुष्य नक्षत्र जिस दिन हो उस दिन कार्य्य का आरम्भ करे ॥ १४९ ॥

अब जो अधिकरण संज्ञा के विशेष वार्त्तिक सूत्र हैं, सो लिखते हैं—

७७८–अधिशीङ्स्थासां कर्म ॥ १५० ॥

—अ० १।४।४६॥

अधिकरण संज्ञा का अपवाद यह सूत्र है।

जो अधिपूर्वक शीङ् स्था और आस धातु का आधार कारक है, वह कर्मसंज्ञक हो।

कर्म्मकारक में द्वितीया कह चुके हैं। जैसे—खट्वामधिशेते—खाट और भूमि में सोते हैं। सभामधितिष्ठति सभामध्यास्ते—सभा में बैठा है।

यहां 'अधि' उपसर्ग का ग्रहण इसलिये है कि—खट्वायां शेते। सभायामास्ते, इत्यादि में न हो ॥ १५० ॥

७७९–अभिनिविशश्च ॥ १५१ ॥ —अ० १।४।४७ ॥

यहां मण्डूकप्लुतगति मान के (परिक्रयणे० ॥ १।४।४४) इस सूत्र से विकल्प की अनुवृत्ति आती है।

जो अभि और नि पूर्वक विश धातु का आधार कारक है, वह विकल्प करके कर्मसंज्ञक हो, पक्ष में अधिकरण संज्ञा हो जावे।

यह कर्मप्रवचनीय गति और उपसर्ग संज्ञा का अपवाद है। जैसे—नह्यपवादविषयमुत्सर्गोऽभिनिविशते। नह्यपवादविषय उत्सर्गोऽभिनिविशते! यहां अपवाद विषय शब्द से कर्मसंज्ञा पक्ष में द्वितीया और अधिकरणसंज्ञा पक्ष में सप्तमी विभक्ति हो जाती है। तथा सन्मार्गमभिनिविशते। सन्मार्गेऽभिनिविशते, इत्यादि ॥ १५१ ॥

७८०–उपान्वध्याङ्वसः ॥ १५२ ॥ —अ० १।४।४८ ॥

यह सूत्र भी अधिकरण संज्ञा का अपवाद है।

जो उप, अनु, अधि आङ् उपसर्गपूर्वक वस धातु का आधार कारक है, वह कर्मसंज्ञक हो।

जैसे—पर्वतमुपवसत्यनुवसत्यधिवसत्यावसति वा । ग्राममुपवसत्यनुवसत्यधिवसत्यावसति वा, इत्यादि—पर्वत और ग्राम के समीप वा उन के बीच में वास करता है ।। १५२ ।।

यह अधिकरणकारक का प्रकरण और ये सातों कारक पूरे हुए ।।

—:**:—

कर्मप्रवचनीय-प्रकरणम्

अब इसके आगे कर्मप्रवचनीय का प्रकरण लिखेंगे, क्योंकि यह भी कारक से ही सन्बन्ध रखता है....

७८१–कर्मप्रवचनीयाः ।। १५३ ।। —अ० १ । ४ । ८३ ।।

यहां से आगे कर्मप्रवचनीय का अधिकार है । संज्ञा करने का प्रयोजन यही है कि थोड़े अक्षरों के कहने से बहुत अर्थ समझा जावे । जैसे—हाथी पर्वत सूर्य्य चन्द्र पृथिवी आदि के कहने से बड़े-बड़े अर्थ समझे जाते हैं ।

प्रश्न—कर्मप्रवचनीय इतनी बड़ी संज्ञा क्यों की ?

उत्तर—भा०—**अन्वर्था संज्ञा यथा विज्ञायते । कर्म प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीयाः**—जिससे यौगिक संज्ञा समझी जावे । जो शब्द क्रिया को कह चुका हो, उसको 'कर्मप्रवचनीय' कहते हैं ।। १५३ ।।

७८२–कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया ।। १५४ ।।

—अ० २ । ३ । ८ ।।

जहां जहां कर्मप्रवचनीय शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति कहें, वहां वहां इसी सूत्र से होवे ।

जैसे—शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत्, इत्यादि। यहां संहिता शब्द से द्वितीया विभक्ति हुई है ॥ १५४ ॥

७८३–अनुर्लक्षणे ॥ १५५ ॥ —अ० १ । ४ । ८४ ॥

इस सूत्र में लक्षण शब्द हेतु का वाची है। उस हेतु अर्थ में द्वितीया विभक्ति प्राप्त थी, उसका अपवाद होने के लिये इस सूत्र का आरम्भ है। नहीं तो (लक्षणेत्थं० ॥ अ० १ । ४ । ९०) इस आगे के (१६३) सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा सिद्ध ही थी।

जो लक्षण अर्थ में वर्त्तमान अनु शब्द हो, तो वह **कर्मप्रवचनीय-संज्ञक** हो।

जैसे–शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत्, इत्यादि। यहां संहिता शब्द में द्वितीया विभक्ति हुई है ॥ १५५ ॥

७८४–तृतीयार्थे ॥ १५६ ॥ —अ० १ । ४ । ८५ ॥

जो तृतीया विभक्ति के अर्थ में वर्त्तमान **अनु** शब्द है, उसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो।

जैसे—नदीमनुगच्छन्ति तृणानि—नदी के जल के साथ तृण चलते हैं, इत्यादि। यहां भी नदी शब्द से द्वितीया विभक्ति हुई ॥ १५६ ॥

७८५–हीने ॥ १५७ ॥ —अ० १ । ४ । ८६ ॥

इस सूत्र में हीन शब्द छोटे का वाची है। सो एक की अपेक्षा में एक छोटा और बड़ा होता ही है।

जो हीन अर्थ में वर्त्तमान अनु हो, तो उसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो।

जैसे—अनु यास्कं नैरुक्ताः । अनु गोतमं नैयायिकाः । अनु शाकटायनं वैयाकरणाः । यहां यास्क आदि शब्दों की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उन शब्दों से द्वितीया विभक्ति होती है ।। १५७ ।।

७८६–उपोऽधिके च ।। १५८ ।। —अ० १ । ४ । ८७ ।।

जो अधिक और चकार से हीन अर्थ में भी वर्त्तमान उप शब्द हो, तो उसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।। १५८ ।।

इस का फल—

७८७–यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी ।।१५६।।
—अ० २ । ३ । ९ ।।

द्वितीया विभक्ति का अपवाद यह सूत्र है ।

जिससे अधिक और जिसका ईश्वरवचन अर्थात् बहुतों के बीच में अधिक सामर्थ्य कहना हो, वहां कर्मप्रवचनीय शब्दों के योग में सप्तमी विभक्ति हो ।

जैसे—प्रजायामुपराजः[1] ।

'अधिक' ग्रहण इसलिये है कि—उपशाकटायनं वैयाकरणाः[2], यहां न हो, इत्यादि ।। १५९ ।।

७८८–अपपरी वर्जने ।। १६० ।। —अ० १ । ४ । ८८ ।।

---

१. यहां प्रजा के बीच राजा का अधिक सामर्थ्य है, इसलिये उप की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उस के योग में प्रजा शब्द से सप्तमी विभक्ति हुई है ।।

२. शाकटायन से अन्य वैयाकरण न्यून हैं । यहां अधिक अर्थ के न होने से द्वितीया ही होती है ।।

वर्जन कहते हैं निषेध को, जो वर्जन अर्थ में वर्त्तमान अप और परि शब्द हैं, वे कर्मप्रवचनीयसंज्ञक हों ।। १६० ।।

७८९–आङ् मर्य्यादावावशने ।। १६१ ।।

—अ० १ । ४ । ८९ ।।

'मर्य्यादा' उसको कहते हैं कि यहां तक यह वस्तु है, उस का कहना 'मर्य्यादावचन' कहाता है। जो मर्य्यादावचन अर्थ में वर्त्तमान आङ् शब्द है, उसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।। १६१ ।।

इन दोनों का फल—

७९०–पञ्चम्यपाङ्परिभिः ।। १६२ ।। —अ० २ । ३ । १० ।

कर्मप्रवचनीयसंज्ञक अप, आङ् और परि शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है।

जैसे—अप ग्रामाद् वृष्टो मेघः । परि ग्रामाद्वा—ग्राम को छोड़ के मेघ वर्षा अर्थात् ग्राम पर नहीं वर्षा। मर्य्यादावचन में आङ्—आसमुद्रादार्य्यावर्त्तः—समुद्रपर्य्यन्त आर्य्यावर्त्त की अवधि है।

यहां 'वर्जन' ग्रहण इसलिये है कि—पण्डितमप वदति । 'मर्य्यादा' ग्रहण इसलिये है कि—आगच्छन्ति वैयाकरणाः । यहां मर्य्यादा अर्थ का न होने से कर्मप्रवचनीय संज्ञा न हुई।

तथा 'वचन' ग्रहण इसलिये है कि—अभिविधि अर्थ में भी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होवे—आकुमारमाकुमारेभ्यो यशः पाणिनेः। यहां अभिविधि अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो के दो प्रयोग बनते हैं। कारण यह है कि कर्मप्रवचनीयसंज्ञक आकार का पञ्चमी विभक्ति के साथ विकल्प करके अव्ययीभाव समास[1] होता है। जिस पक्ष में

---

१. अव्ययभाव समास विकल्प— (आङ्मर्य्यादाऽभिविध्योः ।। अ० २ । १ । १३) ।।

समास हो जाता है वहां पञ्चमी विभक्ति के स्थान में अम्[1] आदेश होता है, और जहां अव्ययीभाव समास नहीं होता वहां पञ्चमी विभक्ति बनी रहती है ॥ १६२ ॥

७६१—लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्य्यनवः ॥१६३॥

—अ० १ । ४ । ९० ॥

जिससे अर्थ जाना जाय वह लक्षण, उसको इस प्रकार का कहना इत्थंभूताख्यान, भाग = अंश; वीप्सा = व्याप्ति इन अर्थों के जनानेवाले जो प्रति, परि और अनु शब्द हैं, वे कर्मप्रवचनीयसंज्ञक हों।

जैसे—लक्षण—वृक्षं प्रति वृक्षं परि वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्—वृक्ष के सामने, ऊपर और पश्चात् बिजुली चमकती है। इत्थंभूताख्यान—परमात्मानं धर्मं च प्रति परमात्मानं परि परमात्मानमनु साधुरयं मनुष्यो वर्त्तते—सत्यप्रेम भक्ति से युक्त हो के यह मनुष्य परमात्मा और धर्म का उपासक है। भाग—यदत्र मां प्रति स्यात् मां परि स्यात् मामनु स्यात्—यहां जो कुछ मेरा भाग हो वह मुझको भी मिले, इत्यादि।

यहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा के दो प्रयोजन हैं—एक तो द्वितीया का होना; दूसरा षत्व का निषेध। जैसे—वीप्सा—वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति। परि सिञ्चति। अनु सिञ्चति।

प्रश्न—परि शब्द के योग में पञ्चमी विभक्ति प्राप्त है, सो क्यों नहीं होती ?

उत्तर—जहां पञ्चमी का विधान है, वहां जो वर्जन अर्थवाले

---

१. पञ्चमी के स्थान में अम्—(नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः ॥ अ० २ । ४ । ८३) ॥

अप और परि एकत्र पढ़े हैं, उन्हीं का ग्रहण होता है, अन्य का नहीं ॥ १६३ ॥

७६२–अभिरभागे ॥ १६४ ॥　　—अ० १ । ४ । ९१ ॥

जो भाग को छोड़ के पूर्वसूत्र में कहे हुए अन्य लक्षण आदि तीन अर्थों में वर्त्तमान अभि शब्द हो, तो वह कर्मप्रवचनीयसंज्ञक हो !

जैसे—लक्षण—वृक्षमभि विद्योतते । इत्थंभूताख्यान—साधुर्बालो मातरमभि । वीप्सा—वृक्षं वृक्षमभिसिञ्चति, इत्यादि ।

यहां 'अभाग' ग्रहण इसलिये है कि—यद्यत्रास्माकमभिष्यात् इत्यादि । यहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा के न होने से षत्व हो जाता है ॥ १६४ ॥

७६३–प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः ॥ १६५ ॥
—अ० १ । ४ । ९२ ॥

प्रतिनिधि कहते हैं किसी की अनुपस्थिति में दूसरे तुल्य स्वभाव गुण कर्म वा आकृतिवाले वा स्थापना करना, और प्रतिदान अर्थात् एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु देना, जो इन दो अर्थों में वर्त्तमान प्रति शब्द हो, तो उस की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ॥ १६५ ॥

इसका फल—

७६४–प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् ॥ १६६ ॥
—अ० २ । ३ । ११ ॥

जिससे प्रतिनिधि और प्रतिदान हों, वहां कर्मप्रवचनीय के योग में पञ्चमी विभक्ति हो ।

जैसे—अभिमन्युरर्जुनात्प्रति—अभिमन्यु को अर्जुन के स्थान में रखा, यह प्रतिनिधि कहाता है। प्रतिदान—तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान्—तिलों के बदले उड़द देता है, यह प्रतिदान कहाता है।

यहां इन 'दोनों अर्थ' का ग्रहण इसलिये है कि—शास्त्राणि प्रत्येति, इत्यादि में प्रति शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा न हो ॥१६६॥

७६५–अधिपरी अनर्थकौ ॥ १६७ ॥ —अ० १ । ४ । ९३ ॥

धातु का जो अर्थ है उस से पृथक् अर्थ के कहनेवाले न हों, ऐसे जो अधि और परि शब्द हैं, उनकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो।

जैसे—कुतोऽध्यागम्यते । कुतः पर्य्यागम्यते । यहां पञ्चमी विभक्ति तो अपादान संज्ञा के होने से सिद्ध ही है, फिर कर्मप्रवचनीय संज्ञा करने का प्रयोजन यह है कि गति और उपसर्ग संज्ञा न हों।

यहां 'अनर्थक' ग्रहण इसलिये है कि—संज्ञामधिकुरुते, इत्यादि में कर्मप्रवचनीय संज्ञा न होके द्वितीया विभक्ति हो ॥ १६७ ॥

७६६–सुः पूजायाम् ॥ १६८ ॥ —अ० १ । ४ । ९४ ॥

जो पूजा अर्थात् सत्कार अर्थ में वर्त्तमान सु शब्द है, उसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो।

जैसे—सुस्तुतम् । सुस्मृतम्—अच्छी स्तुति और स्मरण आपने किया। यहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्गकार्य्य षत्व नहीं हुआ।

'पूजा' ग्रहण इसलिये है कि—सुषिक्तं किं त्वया—क्या तूने अच्छा सींचा, इत्यादि में कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती ॥ १६८ ॥

७६७–अतिरतिक्रमणे च ॥ १६९ ॥ —अ० १ । ४ । ९५ ॥

जो अतिक्रमण अर्थात् उल्लङ्घन, च = और पूजा अर्थ में वर्त्तमान अति शब्द हो, तो वह कर्म्मप्रवचनीयसंज्ञक होवे ।

जैसे—अतिक्रमण—अतिसिक्तमेव भवता—ठीक ठीक नहीं सींचा, किन्तु कीच कर दी । पूजा—अतिसेवितो गुरुस्त्वया—तू ने गुरु की अति सेवा की । यह पूजा कहाती है । इसका फल यह है कि षत्व का निषेध हो जाता है ।

यहां इन 'दो अर्थों' का ग्रहण इसलिये है कि—सुष्टुतं मया—कोई अभिमान करता है कि मैंने बड़ी स्तुति की, इत्यादि में कर्म-प्रवचनीय संज्ञा के न होने से षत्व का निषेध न हुआ ।। १६९ ।।

७६८—अपिः पदार्थसंभावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु ।।१७०।।

—अ० १ । ४ । ९६ ।।

जो पदार्थ, संभावना, अन्ववसर्ग, गर्हा और समुच्चय इन पांच अर्थों में वर्त्तमान पद, उसके योग में अपि शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।

जैसे—पदार्थ—सर्पिषोऽपि स्यात्—कुछ घृत भी होना चाहिये । संभावना = संभव होना—अपिसिंचेद्वृक्षशतम्—संभव है कि यह मनुष्य सौ वृक्ष तक सींच सके । अन्ववसर्ग = आज्ञा करना—अपिसिंच—तू सींच । गर्हा = निन्दाकरना—धिक् ते जन्म यत्पाषाण-मपिस्तोषि—तेरे मनुष्यजन्म को धिक्कार है, जो तू पत्थरों की भी स्तुति करता है । समुच्चय = क्रियाओं को इकट्ठा होना—अपिसेवस्व । अपिस्तुहि—सेवन भी कर, स्तुति भी कर ।

इन सब अर्थों में अपि शब्द की उपसर्ग संज्ञा न होने के लिये कर्मप्रवचनीय संज्ञा की है, कि जिससे उक्त प्रयोगों में मूर्द्धन्य षकार न हो जावे ।

यहां 'पदार्थादि अर्थों' का ग्रहण इसलिये है कि—अपिकृत्य, इत्यादि में कर्मप्रवचनीय संज्ञा होके ल्यप का निषेध न हो ॥१७०॥

७९९–अधिरीश्वरे ॥ १७१ ॥ —अ० १ । ४ । ९७ ॥

इस सूत्र में ईश्वर शब्द से समर्थ मनुष्य का ग्रहण समझना चाहिये। जो ईश्वर अर्थ में वर्त्तमान अपि शब्द है, उसकी कर्म-प्रवचनीय संज्ञा हो।

जैसे—अधिग्रामे क्षत्रियः—यह क्षत्रिय ग्राम में समर्थ अर्थात् उसका अधिष्ठाता है। यहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा के होने से सप्तमी विभक्ति[1] हो जाती है।

यहां 'ईश्वर' ग्रहण इसलिये है कि—खट्वामधिशेते। यहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा के नहीं होने से द्वितीया विभक्ति हुई है ॥१७१॥

८००–विभाषा कृञि ॥ १७२ ॥ —अ० १ । ४ । ९८ ॥

जो कृञ् धातु के प्रयोग में युक्त अधि शब्द हो, तो वह विकल्प करके कर्मप्रवचनीयसंज्ञक हो।

जैसे—अधिकृत्वा। अधिकृत्य। यहां जिस पक्ष[2] में कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है वहां समास के न होने से त्तवा के स्थान में ल्यप् नहीं होता। और जिस पक्ष में कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती, उसमें

---

१. सप्तमी विभक्ति—(यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी॥ अ० २। ३। ९) यह सूत्र पूर्व (१५९) आये हैं॥

२. यहाँ कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है, वहां गति संज्ञा नहीं होने पाती। उसके न होने से (गतिश्च॥ अ० १। ४। ६०) इससे समास भी नहीं होता। समास के न होने से (सामासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्॥ अ० ७। १। १७) इससे ल्यप् भी नहीं होता॥

समास हो के क्त्वा के स्थान में ल्यप् आदेश हो जाता है । इसके अन्य भी बहुत प्रयोजन हैं ।। १७२ ।।

इति श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीव्याख्याकृतोऽष्टाध्याय्यां
कारकीयोऽयं ग्रन्थः समाप्तः ।।

वसुरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे नभस्यस्यासिते दले ।
अष्टम्यां बुधवारेऽयं ग्रन्थः पूर्त्ति गतः शुभः ।।

संवत् १९३८ भाद्र वदी बुधवार के दिन यह कारकीय ग्रन्थ
श्रीयुत स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने पूरा किया ।।

।। समाप्त ।।

—:※※:—

परोपकारिणी सभा द्वारा सद्यःप्रकाशित ग्रन्थ

वैदिक संध्या मीमांसा	१२/-	आर्यसमाज और शोध	१५/-
आर्यसमाज की मान्यताएं	६/-	ऋषि दयानन्द की वेदभाष्यशैली	२०/-
प्राणायाम चिकित्सा	२०/-	वेद और कर्मकांडीय विनियोग	३१/-
प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोत	८/-	अथर्ववेद समस्याएं और समाधान	३५/-
		वेद और विदेशी विद्वान्	३५/-
वैदिक सूक्ति-सुमन	२५/-	यजुर्वेद भाष्य विवरणम्	२५/-
दयानन्द सूक्ति-मुक्तावली	१५/-	श्री भवानीदयाल संन्यासी	२५/-
वेदार्थ विमर्श:	२५/-	वैदिककोष (निघण्टु)	२५/-
वेदों के आख्यान	३५/-	वेदों के दार्शनिक विचार	३५/-

चारों वेद संहिताएं ३२०/-

ऋग्वेदभाष्य (१२ खण्ड)	७५०/-	यजुर्वेद भाष्य (४ खण्ड)	३००/-
ऋग्वेद भाषाभाष्य ,,	२८५/-	यजुर्वेद भाषाभाष्य (२ खण्ड)	१००/-
सत्यार्थप्रकाश	४०/-	संस्कारविधि	१५/-
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	२०/-	वेदांगप्रकाश (१३ भाग)	१७८/-
दयानन्द ग्रंथमाला (२ खण्ड)	१२०/-	नवजागरण के पुरोधा म. दयानन्द	६०/-

म. दयानन्द निर्वाणशति स्मृति ग्रंथ १००/-

महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र (अंग्रेजी) २००/-

आर्य धर्मेन्द्र जीवन १००/-

महर्षि दयानन्द सरस्वती : जीवन और हिन्दी रचनाएं २५०/-

प्राप्ति-स्थल

वैदिक पुस्तकालय

दयानन्द आश्रम, केसरगंज, अजमेर